भारत के स्त्रीरत्न

[जैनकाल और बौद्धकाल]

तीसरा भाग

मुकुटबिहारी वर्मा

प्रकाशक

सस्ता साहित्य मण्डल

दिल्ली

पहली बार १५००
सन् उन्नीस सौ पैंतीस
मूल्य सवा रुपया

पूज्य मालवीयजी की अपील

"'सस्ता साहित्य मण्डल' ने हिन्दी में उच्चकोटि की सस्ती पुस्तकें निकालकर हिन्दी की बड़ी सेवा की है। सर्वसाधारण को इस संस्था की पुस्तकें लेकर इसकी सहायता करनी चाहिए।"

मदनमोहन मालवीय

मुद्रक
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस,
दिल्ली

निवेदन

'भारत के स्त्रीरत्न' के दो भाग सस्ता-साहित्य-मण्डल पहले प्रकाशित कर चुका है—और, यह खुशी की बात है कि, स्त्री-साहित्य के प्रेमी पाठकों ने उन्हें खूब अपनाया है। पहले भाग के चार और दूसरे के दो संस्करण अभीतक हो चुके हैं; और फिर से छपाने की तैयारियां हो रही हैं। इसीसे प्रोत्साहित होकर, अब हम 'स्त्री-रत्न' का तीसरा भाग प्रस्तुत कर रहे हैं।

इस भाग को प्रकाशित तो हम बहुत पहले करना चाहते थे, परन्तु इस बीच कुछ ऐसी झंझटों में हमें पड़ना पड़ा कि इससे पहले ऐसा नहीं कर सके। लेकिन इस विलम्ब की पूर्त्ति इस भाग को पहले की अपेक्षा अधिक अच्छा बनाने की कोशिश की गई है। जैन और बौद्ध काल के स्त्री-रत्नों को, काल-विभाग के अनुसार, विभाजित करके, चरित्र-चित्रण में भी कुछ परिमार्जन किया गया है। आधार तो अब भी वही श्री शिवराम दलपतराम पण्डित का गुजराती "भारतना स्त्री रत्नो" ग्रन्थ है, परन्तु इस बार उसका हूबहू अनुवाद कम हुआ है। काफी स्वतंत्रता अनुवाद में ली गई है, यही नहीं बल्कि कई चरित्रों को तो बिल्कुल नये सिरे से लिखा गया है। ऐसा करने से चरित्रों में सुगमता और परिमार्जितता आगई है। और इसमें कुछ अन्य पुस्तकों की मदद भी ली गई है। सती अञ्जना में श्रीयुक्त सुदर्शन के 'अंजना सुन्दरी' नाटक, यशोधरा में कविवर मैथिलीशरण गुप्त के 'यशोधरा' काव्य और सुजाता व किसागोतमी में प्रो० कौशाम्बी के बुद्ध लीलासार-संग्रह तथा डा० कुमारस्वामी के 'गास्पेल आव् बुद्धिज्म' से खास तौर

पर मदद ली गई है, जिसके लिए हम उनके लेखकों और प्रकाशकों के कृतज्ञ हैं।

आशा है, पहले और दूसरे भागों की तरह, इस (तीसरे) भाग को भी बहुलता के साथ अपनाया जायगा और इसमें के चरित्रों से स्फूर्ति प्राप्त करके स्त्रियां अपने को ऊँचा उठायेंगी।

अगर हमारी आशा पूर्ण हुई तो, उससे उत्साहित होकर, जैन और बौद्ध काल से आगे के स्त्री-रत्नों के चरित्र भी, अन्य भागों के रूप में, हम यथाशीघ्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

श्रावण,
रक्षाबन्धन, १९९२.

प्रकाशक

विषय-सूची

जैन काल

बौद्ध काल

भारत के स्त्री-रत्न

[तीसरा भाग]

जैन काल

जैन-धर्म का संक्षिप्त परिचय

जैन-धर्म के बारे में बहुत से लोगों की ऐसी धारणा पाई जाती है कि यह हमारें धर्म से भिन्न कोई नया ही धर्म है। परन्तु यह धारणा बिलकुल मिथ्या है। हिन्दू, जैन और बौद्ध ये तीनों धर्म एक-दूसरे से बिलकुल मिलते हुए हैं। सच पूछो तो, "वैदिक, जैन और बौद्ध एक हिन्दू-धर्म की ही तीन शाखायें हैं। और इन तीनों के सम्मिलन में ही हिन्दुस्तान के प्राचीन धर्म का पूर्ण स्वरूप बनता है।"

'जिन' या 'तीर्थङ्कर' और जैन

प्राचीन भारतवर्ष में जिन अद्‌भुत महात्माओं ने अपने मन, वचन और काया पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त करली थी, सन्मान की दृष्टि से उन्हें 'जिन' (जि अर्थात जीतना, विजय करना; जिन अर्थात जीतनेवाला, विजयी) कहते हैं; और उनके धर्म का अनुसरण करनेवालों को 'जैन' कहा जाता है। क्योंकि इन महात्माओं ने असंख्य प्राणियों को इस संसार-सागर के पार लगा दिया है, इसलिए 'तीर्थंकर' नाम से भी ये प्रख्यात हैं।

चौबीस तीर्थङ्कर

जैन धर्म में ऐसे चौबीस तीर्थङ्कर हो गये हैं। इनमें सबसे पहले ऋषभदेव हुए हैं और सबसे अन्तिम महावीर स्वामी। ऋषभदेव को तो ब्राह्मणोंने भी अपने चौबीस अवतारों में से एक माना है और उनके अद्‌भुत वैराग्य एवं परमहंस-वृत्ति की खूब प्रशंसा की है। अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी ईस्वीपूर्व ५३९ या ५९९ वें वर्ष में कुण्ड ग्राम में पैदा हुए थे।

चतुरमुखी 'संघ'

जैन-धर्म का महामण्डल 'संघ' कहलाता है। संघ के चार विभाग हैं—(१) साधु (मुनि, यति या श्रमण); (२) साध्वी (आर्य अथवा आरजा); (३) श्रावक; (४) श्राविका। इनमें पहले दो वर्ग संसार-त्याग करके वैराग्य और तपस्या के कठोर नियमों का पालन करते हैं और पिछले दो संसार में रहकर मुनियों का उपदेश सुनते हैं।

'श्वेताम्बर', 'दिगम्बर' और 'स्थानकवासी'

जैन-धर्म के मुख्य पन्थ दो हैं—श्वेताम्वर और दिगम्बर। श्वेत वस्त्र धारण करनेवाले श्वेताम्वर होते हैं; और जो दिशाओं को ही अपना वस्त्र मानते हैं, आर्थात् वस्त्र जैसी कोई चीज शरीर पर नहीं रखते, उन्हें दिगम्बर कहते हैं। तदुपरान्त जो श्वेताम्बर साधुओं को मानते हैं वे श्वेताम्वरी कहलाते हैं, और दिगम्बर साधुओं को माननेवाले दिगम्वरी। इसके अतिरिक्त एक शाखा और भी है। यह तीसरी शाखा 'स्थानकवासी' नाम से पुकारी जाती है और ये लोग मूर्त्ति को नहीं मानते।

'रत्न'

दर्शन, ज्ञान और चरित्र इन तीनों को जैन-धर्म में 'रत्न' कहा गया है।

व्रत

जैनियों में पांच व्रत मुख्य हैं—(१) अहिंसा; (२) सुनृत (सत्य); (३) अस्तेय (चोरी न करना); (४) ब्रह्मचर्य; (५) अपरिग्रह (वस्तुओं को जोड़ कर न रखना, न रखाना और न रखने का अनुमोदन करना। गृहस्थाश्रम का ब्रह्मचर्य यह है कि अपनी ही स्त्री से सम्बन्ध रक्खा जाय। गृहस्थों के व्रत को 'अणुव्रत' और यतियों के व्रत को 'महाव्रत' कहते हैं।

समिति

पांच समिति या सदाचार माने गये हैं--(१) इर्या समिति (रात में जीव-जन्तु पैरोंतले आकर कुचल जाते हैं, इसलिए रात को न चलना। घने रास्तों में जहां आदमी आते-जाते हों और जीव-जन्तु थोड़े हों वहां दिन में भी ऐसी सावधानी से चलना कि जीव-जन्तु पैरों-तले न कुचले जायँ) ।

(२) भाषा-समिति (नम्र, हितकारक, मधुर और सत्य एवं न्याययुक्त बात कहना। असत्य, अभिमान, कपट आदि दोषों से युक्त बात न कहना) ।

(३) एषणा-समिति (यति इस प्रकार भिक्षा मांगे, जो बिलकुल निर्दोष हो) ।

(४) आदान निक्षेपणा-समिति (वस्त्रादि वस्तुयें इस प्रकार रखनी, जिससे किसी प्रकार का दोष न लगे) ।

(५) परिष्ठापना-समिति (कफ या थूक-खकार और मल-मूत्रादि शरीर के मैल को ऐसी जगह और इस प्रकार डालना जिसमें किसी प्रकार का पाप न हो।

त्रग गुप्ति

जैनधर्म का कथन है कि मन, वाणी और काया को शुद्ध रखते हुए इस प्रकार साधना चाहिए कि उनके द्वारा किसी भी प्रकार का दोष न होने पाये। इसे 'त्रण गुप्ति' कहते हैं।

जैनशास्त्र का उपदेश

जैनशास्त्रों का उपदेश है कि निम्न चार प्रकार के भावों का मनुष्य को रात-दिन पालन करना चाहिए :—

(१) मैत्री (प्राणिमात्र से मित्र-भाव रखना, सबके अपराध क्षमा करना और किसी से भी वैर न रखना) ।

(२) **प्रमोद** (अपने से जो योग्य या बड़ा हो उसके प्रति विनयपूर्ण व्यवहार करना, अर्थात् स्तुति-वन्दना एवं सेवा द्वारा उसे प्रसन्न रखना)।

(३) **कारुण्य** (करुणा, दया; दीन-दुखी प्राणियों को उपदेश आदि जिस बात से सुख हो वह करना)

(४) **माध्यस्थ्यत्व** (उपेक्षा करनी; अर्थात् जो बिलकुल जड़ हो और उपदेश ग्रहण न कर सकते हों उनपर भी क्रोध न करना)।

वैराग्य और गार्हस्थ्य

जैन-धर्म में वैराग्य को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है, और यतियों के पालनार्थ जो नियम बनाये गये हैं वे बहुत कठोर हैं। धर्म के सम्बन्ध में भी जैन ग्रन्थों में बहुत-कुछ लिखा गया है। गृहस्थों के लिए बारह धर्म बताये गये हैं।

यात्रा और व्रत

यात्रा और व्रत पर भी जैन-धर्म में काफी जोर दिया गया है। शत्रुञ्जय-पर्वत, चम्पापुरी, पावापुरी, गिरनार और सुमेत शिखर ये पांच तीर्थस्थान बहुत पवित्र माने जाते हैं। क्योंकि, ये तीर्थङ्करों की निर्वाण-भूमि हैं।

पोसह अर्थात् 'प्रोषध व्रत' महीने में पांच बार शुक्लपक्ष की पंचमी और दो चौदश करने का विधान है। इन व्रतों में गृहस्थ को आहार, शरीर की सजावट, स्त्री-संग और व्यापार इन चार बातों का त्याग करना पड़ता है।

पर्युसण या पजूसन जैनियों का सबसे बड़ा व्रत है। इसमें उपवास और शास्त्र-श्रवण किया जाता है।

जैनशास्त्र और ब्राह्मण-शास्त्र की समानता

ऊपर जैनधर्म का जो संक्षिप्त परिचय दिया गया है उससे मालूम पड़ेगा कि जैनशास्त्र ब्राह्मणशास्त्र से बहुत-कुछ मिलते हुए ही हैं।

अहिंसा, तपस्या और वैराग्य पर इस धर्म में बहुत जोर दिया गया है। संसार में रहते हुए भी संयम और इन्द्रिय-निग्रह करके मानव-आत्माओं (मनुष्यों) को उच्चता की ओर अग्रसर होना चाहिए, यही उनका उद्देश प्रतीत होता है।

जगत् अनादि है

जैनशास्त्र जगत् को अनादि मानते हैं और कहते हैं कि कर्म के महानियम से ही सारे जगत् का संचालन होता है। अपने किये कर्मों को भोगना ही पड़ता है, जैसा किया जायगा वैसा ही उसका फल भोगना होगा, इस सिद्धान्त को उनमें बहुत जोरों के साथ विस्तार से समझाया गया है।

जगत् का निर्माता

इसीलिए वे यह नहीं मानते कि एक ईश्वर इस जगत का निर्माता है, बल्कि ऋषभदेव आदि रागादि दोष से रहित और लोकोद्धारक जो तीर्थङ्कर हो गये हैं उन सबको भगवान के रूप में वे पूजा करते हैं।

१

महावीर-माता

सती अञ्जना

बहुत पहले की बात है। महेन्द्रपुर नामक नगर में महाराज महेन्द्रराय राज्य करते थे। हृदयसुन्दरी उनकी रानी का नाम था। उनके पुत्र तो हुए, पर कन्या कोई न थी। बड़ी मुश्किलों में, अनेक पुत्रों के बाद, ईश्वर-कृपा से उनकी यह मनोकामना पूर्ण हुई। उनके यहाँ एक कन्या का जन्म हुआ।

राजसी सुख-वैभव और लाड़-प्यार में पली हुई इस कन्या का नाम अंजनासुन्दरी रक्खा गया और उसके लिए ऊँचे दर्जे की शिक्षा-व्यवस्था की गई। शारीरिक सौन्दर्य तो उसका आंखों को चौंधियाता ही था, उच्च शिक्षा के प्रताप से सदाचार का तेज भी 'सोने में सुगंध' की तरह अञ्जना में खिल उठा।

क्रमशः अञ्जना ने यौवन की देहली पर पांव धरा और माता-पिता को उसके उपयुक्त वर की फिक्र हुई। कन्या के अनुरूप ही वर हो, यही उनकी इच्छा थी। आखिर सोच-समझकर सबकी सलाह से आदित्यपुर के महाराज प्रह्लाद विद्याधर के पुत्र राजकुमार पवनंजय के साथ अञ्जना के विवाह का निश्चय हुआ और विवाह हो गया

विवाह के बाद यौवन से उछलते हृदय और पति-मिलन एवं पति-क्रीड़ा की गुदगुदाती हुई हरी-भरी उमंगों को लेकर अञ्जना पति-गृह (ससुराल) में आई। लेकिन विधाता ने जितना अपूर्व सौन्दर्य और शालीनता उसे दी थी, मानों उतना ही अत्यधिक कष्ट और वेदना भी उसके भाग्य में लिख दी थी।

किसी गलतफ़हमी का शिकार होकर पवनजय उसकी उपेक्षा करने पर तुल गया। उसने अञ्जना का एकदम तिरस्कार किया। फलतः चिन्ता और क्षोभ में क्षीणकाय और मन-मलीन होती हुई अञ्जना अपने दिन बिताने लगी। इतने पर भी उसने अपने धीरज और शालीनता को न छोड़ा, अपने पति के प्रति रोप या दुर्भावना न रखते हुए, आते-जाते समय महल के झरोखों से ही उसे निहार कर वह अपने मन को सन्तोष देने लगी।

अञ्जना के माता-पिता को जब यह मालूम हुआ तो उन्होंने अपनी पुत्री को पीहर बुलाया। परन्तु, अञ्जना ने सोचा—कुलवधू को तो सुख-दुःख कुछ भी क्यों न हो, ससुराल में अपने पति की छत्र-छाया में ही जीवन-यापन करना चाहिए। यह सोचकर, अञ्जना ने वहाँ जाने से इन्कार कर दिया।

बारह बरस ऐसी ही विरह-वेदना में बीत गये। लेकिन न तो पवनजय का मन द्रवित हुआ, न अञ्जना ने ही विरह-वेदना से ऊबकर अपनी पति-निष्ठा को कम किया।

इसके बाद रावण के साथ वरुण का युद्ध हुआ। रावण का दूत महाराज प्रह्लाद विद्याधर के पास सहायता माँगने के लिए आया।

अपनी वीरता प्रदर्शित करने का सुअवसर देख, कुमार पवनजय युद्ध में जाने को कटिबद्ध हुआ।

युद्ध के लिए जाते समय माता-पिता के चरणस्पर्श करके वह शस्त्रागार में गया। अञ्जना से मिलने तो वह क्यों जाने लगा था, अतः स्वयं अंजना ही उसके दर्शनों को वहाँ आ खड़ी हुई। परन्तु कठोर-हृदय पवनजय ने यहाँ भी उसका तिरस्कार ही किया। उससे बात करना तो दूर, उसने एक नज़र उसकी ओर देखा तक नहीं; और रास्ते से उसे एक ओर ढकेलते हुए, वह आगे बढ़ गया।

अञ्जना के स्त्री-हृदय को इससे बड़ी चोट लगी। युद्ध में जाते समय मिलना या एक नज़र देखना तो दूर, उल्टे सास-ससुर सब के सामने ऐसा तिरस्कार! उसका मन लज्जा और क्षोभ से विह्वल हो उठा। आख़िर प्रभु को ही एक-मात्र आधार मानकर उसने निश्चय किया—सदाचारपूर्वक अपना जीवन-यापन करूँगी और संयम का व्रत लेकर भगवान् का नाम जपूँगी।

उधर पवनजय अपने मंत्री प्रहसित के साथ सेना लेकर रावण की मदद को चल दिया। मार्ग में एक सरोवर के किनारे एक दिन उन्होंने अपना मुक़ाम किया। रात को किसी पक्षी की हृदयवेधक आवाज़ सुनकर राजकुमार चौंक पड़ा। उसने मंत्री से पूछा—"यह किसका स्वर है प्रहसित?"

"यह प्रदीप नदी के समीप है," प्रहसित ने कहा, "इसलिए उसके दोनों तीरों पर चकवा-चकवी बोल रहे हैं।"

राजकुमार ने कहा—"लेकिन स्वर से तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो वे रो-रोकर एक-दूसरे को बुला रहे हैं।"

"यही बात तो है राजकुमार!" प्रहसित ने अनुकूल अवसर देखकर कहा, "प्रकृति ने कुछ ऐसा नियम बाँध दिया है कि चकवा-चकवी दिन भर तो एकसाथ रहते हैं, परन्तु रात्रि को उनका मिलाप नहीं हो सकता। नदी के एक तीर पर चकवी और दूसरे पर चकवा होता है। इधर से चकवी बोलती है, उधर से चकवा उत्तर देता है। दोनों उड़कर मिलना चाहते हैं, परन्तु जब चकवा इधर आता है तो चकवी उधर पहुँच जाती है। इसी प्रकार रोते-रोते सारी रात कट जाती है।"

"और यह रुदन केवल रात भर के वियोग के कारण है?" राजकुमार ने आश्चर्य के साथ पूछा।

प्रहसित ने कहा—"हाँ, केवल रात्रि के वियोग के कारण। यह प्रकृति का नियम है और इस संसार भर की शक्तियाँ एकत्र होकर भी तोड़ना चाहें तो भी सफलता नहीं हो सकती।"

अब तो राजकुमार चिन्ता में पड़ गया। घटना तो यह बिलकुल ज़रा-सी और साधारण थी, परन्तु इसने सहसा अपने जीवन की उसे याद दिलादी। मन-ही-मन वह कहने लगा—"ओ निर्दय पवन! प्रकृति-माता के इन बेसमझ पक्षियों से शिक्षा ले और उस अबला का ध्यान कर, जो तेरे वियोग में दिन-रात रो-रोकर अपना यौवन बिता रही है। ये पक्षी एक रात्रि के वियोग में इतने व्याकुल हो जाते हैं, तो अञ्जना की भला क्या दशा होगी, जो वर्षों से विरह-दावानल में

जल रही है ?" एक-एक कर अपने अतीत जीवन की सारी घटनायें उसके स्मृति-पटल पर आने लगीं और उसे महसूस होने लगा कि अपनी पति-प्राणा पत्नी के प्रति मैंने बहुत उपेक्षा, कठोरता और हृदय-हीनता का व्यवहार किया है। लज्जा और पश्चात्ताप से वह सराबोर हो गया और आगे जाना उसके लिए मुश्किल बन गया। आखिर प्रहसित की सलाह से युद्ध में जाने से पहले, जैसे भी हो, एक बार अञ्जना से मिल आने का उसने निश्चय किया। परन्तु ससैन्य वापस जाय तो लोग हँसेंगे और कहीं यह ख़याल न करने लगें कि युद्ध के मारे रास्ते से ही लौट आया, यह सोचकर गुप्त रूप से ही जाने का निश्चय हुआ।

छद्मवेश में जाकर जब राजकुमार ने अन्तःपुर के द्वार खटखटाये, तो अञ्जना की सखी वसन्तमाला ने कहा—"कुमार तो युद्ध में गये हुए हैं, फिर रात को महल के द्वार खटखटानेवाला कौन लम्पट है ? सबेरे ही महाराज से कहकर खबर लिवाऊँगी।" कुमार ने अपना परिचय दिया तब किवाड़ खुले।

अञ्जना उस समय पूजा में निमग्न थी। धर्म-कर्म से निवृत्त होकर वह आई तो पवनञ्जय ने उससे क्षमा माँगते हुए कहा—"तू सचमुच सती है। मैंने तुझे कड़वी, मिथ्या और कठोर बातें कहकर बहुत चोट पहुँचाई है। निरादर भी तेरा बहुत किया है। इस सब के लिए अब मुझे बहुत पश्चात्ताप हो रहा है। अतः मैं तुझसे क्षमा चाहता हूँ। देवी ! मुझे माफ़ कर।"

यह कहता हुआ वह हाथ जोड़कर उसके आगे झुक ही रहा था, कि अञ्जना ने उसे रोका और मधुर शब्दों में आश्वासन देते हुए

उसका स्वागत-सत्कार किया । कुमार इस प्रकार गुपचुप वहाँ रहा और कामविह्वल पत्नी को सन्तुष्ट कर प्रेम-पूर्वक उससे विदा होकर युद्ध को गया ।

जब वह जाने लगा तो अञ्जना ने कहा—"आप चुपचाप यहाँ आकर रहे हैं, इसके फलस्वरूप कहीं मुझे गर्भ रह गया, तो मैं क्या करूँगी ?" तब कुमार ने अपनी अंगूठी निकाल कर उसे दी और कहा—"तू ज़रा भी भय न कर । शत्रु को जीत कर मैं जल्दी ही लौटूँगा । जबतक मैं न आऊँ, मेरी निशानी के तौर पर तू इस अँगूठी को अपने पास रखना ।"

रणक्षेत्र के लिए, वीरांगना को शोभा देनेवाले शब्दों में ही उसने पति को विदाई दी । उसने कहा—"प्यारे ! रणक्षेत्र में अपने शौर्य और पराक्रम से सबको चकित करना । वरुण के सौ पुत्र लड़ने को आयेंगे, पर पीठ न दिखाना । यह सदा याद रखना कि वीर-पुरुष पराजय से मृत्यु को अधिक पसन्द करते हैं । वर्षों के विरह के बाद मुझे प्रेम-रस मिला है और संयोग की इस रात को तुरन्त ही विदा का प्रसंग भी आया है, इससे मेरा हृदय फटा जाता है; परन्तु कर्तव्य-पथ में जाने से रोकना मैं अधर्म समझती हूँ । अतः जाओ और अपने काम में सफलता प्राप्त करो । मैं पीछे से धर्म-कर्म और आपकी मंगल-कामना में अपना समय बिताऊँगी । संसार को अपनी वीरता दिखलाकर, यशस्वी होके, जब आप उज्ज्वल कीर्ति के साथ वापस आयेंगे, तो मेरे सारे दुःख का बदला मिल जायगा । जाओ प्यारे ! प्रसन्नता के साथ जाओ, और विजय प्राप्त करो ।"

उधर पवनजय तो युद्ध को गया, इधर एक रात के समागम में ही अञ्जनासुन्दरी को गर्भ रह गया। धीरे-धीरे जब गर्भ के चिन्ह दृष्टि-गोचर होने लगे तो सास को आश्चर्य हुआ, कि पुत्र तो युद्ध करने गया है तब बहू को गर्भ कैसे रहा ? अञ्जना के प्रति उसे अविश्वास उत्पन्न हुआ और उसके चरित्र पर उसे निश्चित रूप से सन्देह हो गया। अञ्जना ने सकुचाते हुए उसे सब बात बताई, पर सास को विश्वास न हुआ; और वह अञ्जना का तिरस्कार कर उसे बुरा-भला कहने लगी। यही नहीं, अपने पति से भी उसने अञ्जना की दुश्चरित्रता की बात कही। तब उन्होंने अञ्जना को उसके पीहर भेज दिया और एक पत्र-द्वारा यह भी ज़ाहिर कर दिया कि दुश्चरित्रता के कारण हम अञ्जना को अपने घर से निकाल रहे हैं।

दुश्चरित्रता का कलंक जिस स्त्री को लग जाय, भला उसे भारतवर्ष का कौन पिता अपने घर रक्खेगा ? राजा महेन्द्र ने भी उसे अपने यहाँ ठौर न दी, प्रत्युत् तिरस्कार के साथ अलग ही रक्खा। अलबत्ता रानी हृदयसुन्दरी के मातृ-हृदय से न रहा गया, इसलिए उसने उसे बुलाकर सान्त्वना दी और सही हक़ीक़त बताने के लिए कहा। सब-कुछ सुनकर उसे अञ्जना की निर्दोषिता का विश्वास तो हो गया, परन्तु लोकलाज और पति के क्रोध के आगे उसे भी सिर झुकाना पड़ा; और उसने भी उसे जंगल में ही चली जाने के लिए कहा। अलबत्ता दासी और सखी वसन्तमाला ने इस संकट-काल में भी उसका साथ न छोड़ा और अञ्जना के साथ-साथ वह भी जंगल गई।

इस समय के अञ्जना के दुःख का वर्णन नहीं किया जा सकता। वसन्तमाला को अञ्जना के प्रति उसके माता-पितादि का यह व्यवहार बहुत असह्य और अपमानजनक लगा। उसे उनपर बहुत रोष आया और इसके लिए उसने उनका तिरस्कार भी किया। परन्तु निर्मल-हृदय अञ्जना के हृदय में किसीके लिए रोष न था। उसने इसके लिए किसी को दोष न दिया; और इसको अपने किन्हीं कर्मों के दोष का प्रतिफल मानकर सन्तोष के साथ वह जंगल चली गई।

जंगल में अञ्जना को क्या-क्या कष्ट नहीं हुए, परन्तु फिर भी उसने अपने मन को विचलित नहीं होने दिया; और दारुण-से-दारुण कष्ट में भी अपनी प्रतिष्ठा को ढीला नहीं पड़ने दिया। आखिर एक साधु से उसका साक्षात्कार हुआ। उन्हें अञ्जना पर बहुत दया और सहानुभूति उत्पन्न हुई और अञ्जना के पूर्वजन्म का वृत्तान्त बताकर उन्होंने बताया कि उसके किस दोष के फल-स्वरूप उसपर यह कलंक लगा है। इससे अञ्जना की धर्म-प्रवृत्ति को और प्रोत्साहन मिला और धर्मानुष्ठान में वह और भी अधिक उत्साह से प्रवृत्त हो गई।

जंगल की एक कन्दरा में ही अंजना ने पुत्र प्रसव किया। वह बाल्यावस्था से ही बड़ा तेजस्वी और बलवान था। कहते हैं कि उसके जन्मते ही एक गन्धर्व उसे ले गया था, इसीलिए हनुमान उसका नाम रक्खा गया। यही वह हनुमान जी हैं जो अपने बल, पराक्रम एवं स्वामी-भक्ति के लिए हिन्दूमात्र के आराध्यदेव महावीर बने हुए हैं।

उधर पवनजय जब युद्ध में विजय प्राप्त कर लौटा तो उसे यह सब हाल मालूम हुआ। अंजना पर व्यर्थ ही दुश्चरित्रता का कलंक

लगाकर उसे घर से निकाल दिया गया है, यह जानकर उसे बड़ी मर्मवेदना हुई; और अंजना के नाम को रटता हुआ वह उसकी खोज में चल दिया। शहर-शहर और जंगल-जंगल वह अंजना को ढूँढता हुआ भटकता रहा, परन्तु अंजना का कहीं पता न लगा। आखिर निराश होकर उसने आत्म-हत्या करने का निश्चय किया और जिस तरह पतिप्राण स्त्रियाँ पति के पीछे जलती चिता में कूदकर प्राणार्पण किया करती थीं उसी प्रकार वह भी चिता जलाकर उसमें कूदने के लिए कटिबद्ध हुआ परन्तु ऐन वक्त पर पितादि ने पहुँचकर रोक लिया और समझाया कि इस प्रकार आत्म-घात करना तो महा पाप और कायरता का चिन्ह है।

इसी समय अंजना का आश्रयदाता प्रतिसूर्य विद्याधर भी उसे लेकर वहाँ आ पहुँचा और यह बतलाते हुए कि अंजना ने कठिन प्रसंगों पर भी किस प्रकार पवित्रता से धर्माचरण में जीवनयापन किया है, उसने हनुमान के जन्म और बाल-पराक्रम का भी सब वृत्तान्त सुनाया; जिसे सुनकर सब लोग हर्ष से गद्गद् हो गये।

पवनजय के हर्ष का तो कोई ठिकाना ही न रहा; और, अंजना के दुःख का खात्मा हो गया।

प्रतिसूर्य विद्याधर के आग्रह पर अंजना, और हनुमान सहित पवनजय कुछ समय उन्हींके पास रहा और फिर अपनी राजधानी को चला आया।

पुत्र हनुमान को माता-पिता ने अच्छी शिक्षा दी और उसके वयः प्राप्त हो जाने पर उसे राज्य सौंपकर पवनजय ने दीक्षा ले ली।

पश्चात् अंजनासुन्दरी ने भी एक विद्वान मुनि से दीक्षा ली और अपने कर्म का क्षय हो जाने से मोक्ष को प्राप्त हुई।*



* रामायण के महावीर (हनुमान) और जैन तीर्थंकर महावीर एक ही थे, यह नहीं कहा जा सकता। महावीर-माता का जो चरित्र यहां दिया गया है, वह बहुत-कुछ जैनियों की दृष्टि से, उन्हीं के साहित्यानुसार, दिया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि माता-पितादि के नाम सब मिल जाते है, फिर भी इस चरित्र को पढ़ते समय हम किसी गलतफहमी में न पड़ें, यह हमें ध्यान रखना चाहिए। —संपादक

२

साहसी सती

धारिणी (पद्मावती)

धारिणी चम्पापुरी के राजा दधिवाहन की पत्नी और चेटक राजा की पुत्री थी। पद्मावती इसका दूसरा नाम था। चित्रविद्या, शिल्पकार्य और धर्मशास्त्र का इसे अच्छा ज्ञान था। साहसी भी यह खूब थी। दुःख से कभी हिम्मत न हारती। सदा स्वस्थ और प्रसन्न रहती। यह गम्भीर, सावधान और चतुर थी। व्यवहार में कुशल और संकट में यथासाध्य काम आनेवाली थी। शौर्य इसमें पुरुषों जैसा ही था। पिता चेटकराजा ने इसे विविध प्रकार की शिक्षा दी थी। चरित्र भी इसका बहुत शुद्ध था।

सती धारिणी का अपने पति पर शुद्ध और पवित्र प्रेम था, और पति दधिवाहन भी उसपर ऐसाही प्रेम रखता था। इस प्रकार इस दम्पती का गृहस्थ-जीवन बड़े सुख से व्यतीत हो रहा था।

सती धारिणी के वसुमती नाम की एक कन्या हुई, अपनी उस पुत्री को भी शिक्षाप्राप्त माता ने अच्छी शिक्षा देकर ऊँचे संस्कारों वाली बना दिया था।

परन्तु, 'सब दिन होत न एक समान।' सती धारिणी का सुख भी बहुत दिनों तक नहीं रहा। कौशाम्बी के राजा शतानीक के साथ

उसके पति राजा दधिवाहन की शत्रुता हो गई। राजा शतानीक ने दधिवाहन पर चढ़ाई कर दी। दोनों राजाओं में भयानक युद्ध हुआ। आख़िर राजा दधिवाहन पराजित हुआ और कहीं भाग गया। राजा शतानीक ने शहर को लूटा, और उसके एक योद्धा ने राजमहल में जाकर रानी धारिणी तथा राजकुमारी वसुमती को अपने क़ब्ज़े में किया।

रानी धारिणी पर जब उस योद्धा की नज़र पड़ी, तो उसके अनुपम सौन्दर्य को देखकर वह मोहित हो गया; और उसे आश्रय देने का बहाना करके एक जंगल में लेगया। वहाँ जाकर उसने रानी धारिणी से कहाः—

"सुन्दरी! इस समय यहाँ पर तेरा कोई भी नहीं है। यदि तू किसी भी प्रकार आनाकानी करेगी तो बड़ा दुःख उठाना पड़ेगा। इसलिए सीधी तरह तू मेरी पत्नी बनजा।"

योद्धा की ऐसी बात सुनकर रानी धारिणी कांप उठी; परन्तु उसमें साहस खूब था, इसलिए क्रुद्ध होकर बोलीः—

"दुष्ट दुराचारी! ऐसे दुर्वचन कहनेवाली अपनी जीभ को काट डाल। क्या तू नहीं जानता, कि मैं कौन हूँ? मैं असली क्षत्राणी हूँ; मेरे दोनों कुल (पीहर और ससुराल) शुद्ध और निष्कलंक हैं। सदा मैं प्रभु की भक्ति करती हूँ। दुष्ट! क्या तुझे हिन्दू-स्त्रियों के पतिव्रत-धर्म की महिमा का भी ज्ञान नहीं है? नहीं तो भला तू ऐसे दुर्वचन मुंह से निकालता।"

यही नहीं, इसके बाद और भी नानाविध धर्म की बातें कहकर सती धारिणी ने योद्धा को उपदेश किया। परन्तु वह तो इतना

कामान्ध हो रहा था कि सती के सदुपदेश का उस पत्थर-दिल पर ज़रा भी असर नहीं हुआ; और वह धारिणी के साथ बालात्कार करने पर आमादा हो गया। तब, अपनी सतीत्व-रक्षा का और कोई उपाय न देख, सती धारिणी ने दाँतों से अपनी जीभ काट कर प्राण-त्याग कर दिया।

इस चरित्र से यह स्पष्ट है कि स्त्री चाहे तो कठिन से कठिन प्रसंग पर भी अपनी सतीत्व-रक्षा कर सकती है, फिर इसके लिए उसे अपने प्राण ही क्यों न दे देने पड़ें। सतीत्व-रक्षा के लिए अपने प्यारे प्राणों का भी परित्याग कर देने वाली पतिव्रता सती धारिणी सचमुच धन्य है।

३

धारिणी-कन्या

चन्दनबाला (वसुमती)

चन्दनबाला उसी सती धारिणी के गर्भ से पैदा हुई थी, जिसका परिचय हम इससे पहले के चरित्र में दे चुके हैं। वसुमती इसका बचपन का नाम था।

राजा शतानीक के साथ हुए युद्ध में हारकर, वसुमती का पिता राजा दधिवाहन भाग गया था। उसका कुटुम्ब शत्रु के एक योद्धा के हाथ लगा और रानी धारिणी को उस योद्धा से अपनी सतीत्व-रक्षा करने के लिए अपने प्राणों का बलिदान करना पड़ा, यह भी हम धारिणी के चरित्र में जान चुके हैं।

माता की मृत्यु से वसुमती को बहुत रंज हुआ और वह हृदय-विदारक विलाप करने लगी। यहाँ तक कि उसके विलाप को सुनकर उस योद्धा को भी दया आगई। काम-विकार उसके मन से जाता रहा और उसने वसुमती को अपनी बहन के समान मानकर घर रखने का वचन दिया।

इसमें शक नहीं कि योद्धा शुद्ध भाव से ही उसे अपने घर ले गया था, फिर भी उसकी पत्नी को शंका हुई कि इस सुन्दर स्त्री को मेरा पति अपनी उपपत्नी करके ही लाया होगा। अपनी सौत का

आगमन उसे सहन न हो सका। उसने पति को धमकाया और कहा कि तुम इतने पर भी नहीं मानोगे तो मैं राज में पुकार करूंगी। तब यह सोचकर कि मुझपर व्यर्थ ही लम्पटता का दोष लगेगा, वह वसुमती को दासी की तरह बेचने के लिए बाजार में ले गया।

वसुमती का सौन्दर्य अपूर्व था। ऐसी सुन्दर युवती को बिकते देख बहुत से लोग खरीदने के लिए आए। अनेक वेश्यायें भी आईं, जो वसुमती के लिए चाहे जितना मूल्य देने को तैयार थीं। आखिर योद्धा को मुँह माँगा मूल्य देकर एक वेश्या ने वसुमती को खरीद लिया। जब वेश्या ने उससे अपने साथ चलने के लिए कहा, तो वसुमती ने उससे पूछा—"बहन! तुम कौन हो? कैसा तुम्हारा कुल है? किस जाति की हो?" पर वेश्या ने बीच में ही रोककर कहा—"मेरे कुल को जानकर तुझे क्या करना है? मैंने तो तुझे खरीदा है, अब मैं तेरी मालिक हूं। हमारे यहां तुझे बढ़िया-से-बढ़िया वस्त्राभूषण पहनने को मिलेंगे, चबाने को पान मिलेंगे, और तरह-तरह के स्वादिष्ट भोजन खाने को मिलेंगे। हमारे यहाँ जैसे भोजन तो राजमहलों में भी नहीं मिलते।" अब वसुमती को विश्वास होगया कि यह तो अपने तथा अन्य स्त्रियों के रूप का व्यापार करने वाली वेश्या है। 'चाहे जो हो पर वेश्या के यहां तो नहीं जाऊँगी', ऐसा उसने निश्चय किया। वेश्या उसपर ज़ोर-जबरदस्ती करने लगी, तब वसुमती ने एकाग्र चित्त से भगवान की प्रार्थना की और उसीकी मदद माँगी। सत्य संकल्प हो, शुद्ध एकाग्र चित्त से प्रार्थना की जाय, तो भगवान ज़रूर सहायक होते हैं; यही यहाँ भी हुआ। देखते-देखते

एक बाण आया और उससे वेश्या की नाक कट गई। अन्य वेश्याओं ने यह देखा तो उन्हें भी भय हुआ; और उस वेश्या को अपने साथ लेकर वे वहाँ से चली गईं। तब योद्धा वसुमती को दूसरे बाज़ार में ले गया। वहाँ धनावह सेठ ने उसे दासीरूप में खरीदने की इच्छा प्रकट की। सेठ के यहाँ जो काम करते थे वे शुद्ध और धर्मानुकूल होने से वसुमती ने उसके घर जाना स्वीकार कर लिया।

वसुमती सेठ के साथ उसके घर गई। सेठ ने उसे अपनी पत्नी के सुपुर्द कर दिया और कहा कि इस कन्या का सावधानी से पालन करना। परन्तु सेठ की पत्नी मूला भी बहुत वहमी थी। उसे शंका हुई कि मैं अब वृद्धा होने लगी हूँ और यह सुन्दरी बिलकुल नौजवान है; कहीं ऐसा न हो कि आगे चलकर सेठ की नीयत बिगड़ जाय; वह इससे उलझ गया तो फिर मेरी तो बड़ी दुर्दशा होगी।

एक दिन की बात है कि मूला कहीं बाहर गई हुई थी और वसुमती सेठ को अपने पितृतुल्य मानकर उसके पाँव धो रही थी। पाँव धोते-धोते अकस्मात् उसके सिरपर से कपड़ा खिसककर उसकी चोटी (वेणी) ज़मीन पर गिर पड़ी और सेठ ने उसे अपने हाथ में उठाली। संयोगवश इसी समय सेठानी मूला भी वहाँ आ पहुँची। अब तो उसकी शंका और भी दृढ़ हो गई। उसने मन-ही-मन निश्चय किया कि इस वसुमती-रूपी काँटे को तोड़कर ही रहूँगी।

दूसरे ही दिन सेठ को अनुपस्थित देख, मूला ने नाई को बुलाकर वसुमती का सिर मुण्डवा दिया और पैरों में बेड़ी डालकर उसे तहखाने में बन्द कर दिया। सेठ ने बाहर से आकर पूछा, तो सेठानी

ने कहा "मन मौजी छोकरी है; जहाँ जी में आया चली गई होगी। चलो जाने दो, गई तो आफ़त टली; नहीं तो ऐसी सुन्दर लड़की को अपने घर रखने से किसी दिन कलंक ही लगता।" लेकिन सेठ को वसुमती पर बड़ा स्नेह हो गया था; उसने कहा; 'जबतक वसुमती न मिलेगी मैं भोजन नहीं करूँगा'। उधर तहख़ाने में पड़ी हुई वसुमती अपने भाग्य को कोस रही थी—"मेरे पूर्वजन्म के कर्म बुरे होंगे; नहीं तो भला इस प्रकार एक के बाद एक दुःख क्यों पड़ते ? ख़ैर, भगवान जो-कुछ करता है वह अच्छे के ही लिए करता है। मुझे ऐसा एकान्त स्थान मिला है, तो मैं निर्विघ्न धर्म-साधना करूँगी। अपनी दूषित आत्मा को भगवान के चरणों में समर्पित करके मैं शुद्ध बनूँगी। ऐसा करते हुए यदि इस शरीर का अन्त भी हो जाय तो अगले जन्म में तो मेरा उद्धार होगा ही।"

इस प्रकार सोचकर वसुमती ने 'पंच परमेष्ठी नमस्कार' रूप नवकार मंत्र का जप शुरू किया। साथ ही तीन उपवास भी इस तहख़ाने में उसने किये। महामंत्र के जप और उपवास के तप से उसके पूर्वजन्म के पाप-कर्मों का क्षय होगया।

पुण्य का उदय होने के साथ ही अब सब संयोग अनुकूल हो गये। श्री वीरप्रभु गुप्त वेश में विचरण करते हुए कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के दिन कौशाम्बी नगर के बाहर आये। वहाँ उन्होंने ऐसा अभिग्रह किया कि 'कोई स्त्री चौखट पर बैठी हो, एक पैर घर के अन्दर और एक बाहर हो, राजकन्या होने पर भी दासी बनी हुई हो, पैरों में बेड़ी हो, सिर मुण्डा हो, और रुदन करती हो, ऐसी स्त्री

अष्टमी के दिन छाज के कोने से उड़द के छिलके दे तभी मैं पारणा करूँगा।'

उधर वसुमती के न दीखने पर सेठ को उपवास करते हुए तीन दिन हो गये तो एक दासी को उन पर दया आई और उसने सारा हाल उनसे कह दिया। सेठ ने तहखाना खोला तो देखा, कि वसुमती एकाग्र-चित्त होकर भगवान का ध्यान कर रही थी और उसके नेत्रों से प्रेमाश्रु बह रहे थे।

सेठ ने उसे तहखाने से बाहर निकाला और सेठानी दरवाजे पर ताला लगाकर कहीं गई हुई थी इसलिए उसे चौखट पर बैठाकर दासी को उसके लिए खाना लाने को कहा। दासी के पास उस समय और कोई भोजन नहीं था, इसलिए वह राँधे हुए उड़दों के छिलके ले आई। उन्हीं को छाज में रखकर सेठ ने राजकन्या के आगे रख दिया।

वसुमती ने सोचा कि आज पर्व-दिन है। इतने उपवास किये बाद अब मुझे पारणा करने का अवसर मिला है। अतः किसी शुद्ध चित्त-वाले अतिथि को भोजन कराकर उसके बाद में पारणा करूं तो अच्छा होगा। वह यह सोच ही रही थी कि इतने में श्रीवीर प्रभु वहाँ पहुंचे। उनको देखकर वसुमती के हर्ष का ठिकाना न रहा। उसने उनका बड़ा स्वागत सत्कार किया और भोजन ग्रहण करने की प्रार्थना की; परन्तु वीरप्रभु ने जो अभिग्रह सोच रक्खा था उसमें अभी रुदनवाली बात बाकी थी, अतः वह वापस चल दिये। यह देख भक्त-हृदया वसुमती को बड़ा दुःख हुआ, कि ऐसा योग्य अतिथि मेरी प्रार्थना को अस्वीकार करके वापस जा रहा है, और शोकावेग में वह अपनी आँखों के

प्रवाह को न रोक सकी। अब तो वीरप्रभु की सोची हुई सभी बातें पूरी हो गईं, अतः वह जाते हुए रुक गये और प्रसन्नतापूर्वक वसुमती की प्रार्थना स्वीकार करके उन्होंने पारणा किया। वसुमती की दृढ़ता और धर्म-भावना की उन्होंने खूब प्रशंसा की; और उनके आशीर्वाद से वसुमती के पैरों में जो बेड़ियां पड़ी हुई थीं वे सुवर्ण की हो गईं तथा उसके सिर में नये बाल निकल आये।

महावीर-स्वामी को प्रथम पारणा कराने के कारण, सब इनके जीवन को धन्य मानने लगे। वसुमती भी कुछ ऐसा ही समझने लगी, कि अब तो मेरा जीवन सफल हो गया। वह बड़ी उदार-हृदय थी। अपने को सतानेवाली मूला सेठानी को उसने कोई शाप नहीं दिया; बल्कि इस बात के लिए उसका बहुत उपकार मानने लगी कि उसीके कारण महावीर-स्वामी की इस प्रकार सेवा करने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ।

इसके बाद कुछ समय तक धनावह सेठ और सेठानी मूलादेवी की प्रेमपूर्ण छत्रछाया में रहकर फिर वसुमती ने श्री महावीर-स्वामी से चारित्र्य ग्रहण किया; और उसकी देखा-देखी, राजा शतानीक की रानी मृगावती ने भी दीक्षा ले ली। तदनन्तर वसुमती को कैवल्य-ज्ञान हुआ और अन्त में वह मुक्त हो गई।

इस पवित्र सती के नाम का स्मरण जैनी लोग आज भी अपने धार्मिक कृत्यों के समय रोज़ करते हैं।

४

सुव्रता

मदनरेखा

मदनरेखा सुदर्शनपुर के राजा मणिरथ के छोटे भाई युगबाहु की पत्नी थी। रूप में यह बहुत आकर्षक और स्वभाव की अत्यन्त सुशील थी। पति भी इसका बहुत धार्मिक प्रवृत्तिवाला था। पति-पत्नी का सांसारिक जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होता था। परन्तु मदनरेखा के अनुपम रूप-सौन्दर्य ने ही उसमें बाधा उपस्थित करदी।

मदनरेखा के अपूर्व सौन्दर्य को देखकर उसका जेठ मणिरथ उसपर मुग्ध हो गया। उसकी नीयत बिगड़ गई। दुष्ट मणिरथ के मन में अपने छोटे भाई की पत्नी मदनरेखा के लिए विकार का भाव उत्पन्न हुआ; और मदनरेखा को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए उसने दासी के द्वारा उसके पास बहुमूल्य वस्त्राभूषण का उपहार भेजा। मदनरेखा के हृदय में कोई पाप न था, उसने राजा का प्रसाद समझकर निर्दोषभाव से उसे ले लिया। परन्तु इसके बाद दासी फिर आई और मदनरेखा से राजा की आसक्ति की बात कही। मदनरेखा सती स्त्री थी। दासी की यह बात तीर की तरह उसके हृदय में चुभी। उसके क्रोध और शोक का ठिकाना न रहा। उसी आवेश में उसने दासी से कहा:—

"मेरे जेठ होकर महाराज को ऐसा सन्देश भेजते हुए शर्म नहीं आती ? वेश्याओं के भाई भी ऐसा तो नहीं करते । वे कभी अपनी बहनों के पास अपनी काम-वासना की तृप्ति के लिए नहीं जाते । फिर जिस स्त्री में सतीत्व का गुण नहीं वह नरकगामी होती है । तेरे राजा के अन्तःपुर में तो सुन्दर स्त्रियां मौजूद हैं, उनके होते हुए पर-स्त्री की इच्छा क्यों ? अभी तो मेरे पति ज़िन्दा हैं, उनके होते कोई मुझपर कुदृष्टि डालेगा तो ज़रूर मौत के मुँह में जाएगा । मुझपर तो कोई बलात्कार करे तो भी मैं पर-पुरुष को अपना शरीर न छूने दूँगी, चाहे इसके लिए मुझे प्राण ही क्यों न दे देने पड़ें । भले आदमी तो, चाहे यह लोक हो या परलोक, कोई विरुद्धाचरण करते ही नहीं हैं; क्योंकि जीवहिंसा, असत्य वचन, पर द्रव्यहरण और पर-स्त्री-गमन ये चारों बातें नर्क में ले जानेवाली हैं । फिर राजाओं को तो पर-स्त्री की इच्छा कभी करनी ही नहीं चाहिए, क्योंकि सारी प्रजा उन्हींके उदाहरण का अनुसरण करती है ।"

दासी ने जाकर राजा से सब हाल कहा । परन्तु कामवश राजा की मति मारी गई थी । उसने सोचा की भाई के ज़िन्दा रहते तो मेरी कामना पूरी होगी नहीं, इसलिए पहले उसीको खत्म करना चाहिए । इस प्रकार कामवश विवेक-बुद्धि-शून्य राजा अपनी अधम वासना की तृप्ति के लिए अपने सगे भाई का ही वध करने को तैयार हो गया !

मदनरेखा ने एक दिन स्वप्न में पूर्ण चन्द्रमा देखा । अपने पति से उसने इस स्वप्न का हाल कहा, तो पति ने इसका यह अभिप्राय बतलाया कि उसके उदर से चन्द्रमा के समान सौम्य गुणवाला पुत्र पैदा होगा ।

गर्भावस्था में मदनरेखा जिनेन्द्र की पूजा, गुरुओं की वन्दना और धर्म-कथा का श्रवण करने लगी; क्योंकि गर्भावस्था में माता के भाव-विचार जैसे होते हैं उसका उदरस्थ बालक पर बहुत असर पड़ता है।

सगर्भावस्था में एक दिन वह उपवन में अपने पति के साथ विनोद कर रही थी, इतने में दुष्टमति राजा मणिरथ वहाँ आ पहुँचा। युगबाहु उससे मिलने गया। उस समय मणिरथ ने उसे बातचीत में लगा कर अचानक उसपर तलवार का प्रहार किया और फिर ढोंग करके इस प्रकार रोने लगा, मनों जानबूझ कर नहीं बल्कि ग़लती से यह घटना हो गई हो। मदनरेखा ने जब अपने पति की यह दशा देखी तो रोने-चिल्लाने लगी। उसके नौकर यह सब देख राजा को मारने के लिए आगे बढ़े, परन्तु उदार-हृदय युगबाहु ने उन्हें रोक दिया।

युगबाहु के पुत्र चन्द्रयशा को जब यह ख़बर मिली तो वह तुरन्त वहाँ आकर उसकी मरहमपट्टी करने लगा। मदनरेखा ने भी पति की बहुत सेवा की। न केवल शारीरिक सेवा से, बल्कि ज्ञानामृत द्वारा भी पति की पीड़ा को कम करने का उसने प्रयत्न किया। पति को उसने आश्वासन दिया, कि "आप शोक बिलकुल न करें। कर्मों से कभी मुक्ति नहीं मिलती जीवन में मनुष्य जो सुख पाता है वह उसके पूर्व-जन्मों के कर्म का ही फल है। अतः आपने जाने-अनजाने, मन-वचन-कर्म से, जो कोई पाप किये हों, उनके लिए प्रभु से क्षमा-याचना करें। राग-द्वेष किसी के प्रति न रक्खें। किसीने आपको कोई दुःख दिया हो, सताया हो, तो उसको उदारता पूर्वक क्षमा करदें। दुनियाँ के सारे

पदार्थ और समस्त सुख चल (अस्थिर) हैं, केवल धर्म ही अचल (स्थिर) है । इसलिए धर्म का आश्रय लेकर आप धैर्य धारण करें ।"

इस प्रकार धर्म-ज्ञान की चर्चा करके मदनरेखा ने अपने पति को अन्तकाल में शान्ति प्रदान की । तलवार के घाव से युगबाहु अच्छा न हुआ, परन्तु पत्नी की मीठी और धर्मयुक्त बातों से उसे बड़ी शान्ति मिली । आखिर भगवान का ध्यान करते हुए उसकी मृत्यु हो गई ।

पति-वियोग से मदनरेखा को बड़ा रंज हुआ । विलाप तो उसने बहुत किया, परन्तु साथ ही यह भी वह समझती थी कि अब समय खोने से काम न चलेगा । अपने कामान्ध जेठ पर उसे विश्वास न था । अतः वह वहाँ न रही और एक अज्ञातवन में अपनी सतीत्वरक्षा के लिए रहने लगी । पति-मृत्यु के समय वह गर्भवती थी, यह हम पहले कह ही आये हैं । गर्भ-काल समाप्त होने पर, वहाँ उसके एक पुत्र पैदा हुआ । उस पुत्र को अपने पति के नाम की अंगूठी पहना एक वृक्ष-तले सुलाकर वह नदी में नहाने गई थी, वहाँ विद्याधर नामक एक ब्राह्मण उसके रूप पर मुग्ध हो गया । उसने मदनरेखा को अनेक प्रलोभन देकर, अपनी पत्नी बनने के लिए कहा तब मदनरेखा ने एक चाल चली, उसने कहा कि "पहले तुम मुझे अपने साथ नन्दीश्वर ले चलो, वहाँ देवताओं को प्रणाम करने के बाद जैसा तुम कहोगे वैसा करूँगी ।" विद्याधर ने यह बात मान ली और अपने विमान में बैठा कर उसे नन्दीश्वर ले गया । वहाँ मदनरेखा ने भक्ति-भाव से देवताओं की पूजा की । विद्याधर का पिता मणिचूड़ मुनि वहीं रहता था । अपनी, दिव्यशक्ति से उसे अपने पुत्र के अधम विचार का

पता लग गया। उसने बड़े मार्मिक शब्दों में अपने पुत्र को समझाया। कि पर-स्त्री-गमन का विचार तक करना कितना बड़ा पाप है और परस्त्री-गमन से मनुष्य नरक में जाता है। उसने इतनी अच्छी तरह उसे समझाया कि विद्याधर पर असर हो गया और उसे अपने किये पर पश्चात्ताप होने लगा। उसने मदनरेखा से क्षमा माँगी और कहा—"अब से तू मेरी बहन है; बता मैं तेरी क्या सेवा करूं?" मदनरेखा ने कहा—"तुमने तीर्थ-दर्शन कराके मेरा बड़ा उपकार किया है; और अब तो तुम मेरे भाई ही बन गये हो। यह क्या कुछ कम बात है?"

मुनि से मदनरेखा को अपने पुत्र का पता भी लग गया। मदनरेखा के मन में जन्म-मरण, जरा, रोग-शोक से रहित अचल मोक्ष का सुख प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हुई; परन्तु पुत्र-स्नेह के कारण एक बार उससे मिलने की उत्कण्ठा थी, इसलिए वह पहले मिथिला नगर गई। वहां एक विदुषी साध्वी रहती थी, मदनरेखा ने उसके दर्शन किये। उसने मदनरेखा को जो धर्मोपदेश किया, उसका इतना प्रभाव पड़ा कि पुत्र के लिए उसके मन में जो आसक्ति थी वह भी जाती रही, और पुत्र से मिलने का विचार छोड़ कर उस साध्वी से ही उसने चारित्र ग्रहण कर लिया। तब मदनरेखा के बजाय सुव्रता उसका नाम रक्खा गया।

मदनरेखा का छोटा पुत्र, जिसे वह वन में छोड़ आई थी, पद्मरथ राजा को मिला। उन्होंने उसे बड़े लाड़-प्यार से पाला। उसका नाम नमि रक्खा गया और पद्मरथ ने उसे सब विद्याओं में पारंगत बना

दिया। यही नहीं, उत्तरावस्था में स्वयं वानप्रस्थ लेकर अपना राज्य भी उसीको सौंप दिया।

उधर मदनरेखा का बड़ा पुत्र चन्द्रयशा अपने चाचा मणिरथ की अकालमृत्यु हो जाने से उसका उत्तराधिकारी हुआ। एकबार एक हाथी के लिए उसके और नमि के बीच युद्ध हुआ। मदनरेखा को जब यह पता चला तो वह सोचने लगी कि दोनों सगे भाई नाहक एक-दूसरे पर हाथियार चलायेंगे, फिर युद्ध में हज़ारों निर्दोष प्रणियों की भी वध होगा। अतः उक्त साध्वी से पूछकर वह स्वयं रणक्षेत्र में पहुंची और चन्द्रयशा तथा नमि दोनों को उपदेश दिया और यह विश्वास करा दिया कि वे दोनों एक-दूसरे के सगे भाई हैं। फलतः युद्ध रुक गया और चन्द्रयशा ने अपने छोटे भाई नमि को राजपाट सौंपकर स्वयं धर्म की दीक्षा ले ली। इसके कुछ समय बाद नमि के मन में भी संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न हुआ और उसने भी अपने बड़े भाई तथा माता का अनुसरण किया। अपने पुत्र को राज्य सौंपकर वह भी धर्म-सेवन में जीवन-यापन करने लगा; और बड़ा संयमी एवं ज्ञानी निकला।

मदनरेखा को यह देख कर बड़ा आनन्द हुआ कि उसके दोनों ही पुत्र धार्मिक प्रवृत्ति वाले, निर्लोभी और कर्त्तव्य-परायण निकले। स्वयं वह भी सब कर्मों का क्षय करके केवल ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष की अधिकारिणी बन गई।

५

शत्रु को छकानेवाली

मृगावती

मृगावती कौशाम्बी के राजा शतानीक की पत्नी और चेटक-राजा की पुत्री थी। श्री महावीर स्वामी के समय में इसका जन्म हुआ था। यह बड़ी सुन्दरी और बुद्धिमान् थी। अपने सद्गुणों के कारण उसने पति का प्रेम खूब पाया हुआ था।

एक दिन राजा शतानीक के दरबार में एक कुशल चित्रकार आया। इस चित्रकार को किसी यक्ष के वरदान से ऐसी सिद्धि मिली हुई थी कि शरीर का कोई भी अंग देख लेता तो उसी पर से उसका पूरा शरीर चित्रित कर सकता था। राजा शतानीक ने उस चित्रकार से कितना ही काम कराया। एक दिन चित्रशाला में बैठा हुआ वह चित्र बना रहा था कि अकस्मात् अन्तःपुर में बैठी हुई रानी मृगावती के पैर के अंगूठे पर उसकी दृष्टि पड़ी। अपनी अद्‌भुत शक्ति से उसी पर से उसने रानी का पूरा चित्र तैयार कर डाला। रानी की जाँघ पर एक तिल था, वह तक चित्र में आ गया। चित्रकार ने कई बार उसे चित्र में से निकालने की कोशिश की, लेकिन वह उसे हटा न सका; अतः उस तिल को चित्र में रखना ही पड़ा। चित्र तैयार हो

जाने पर राजा को बताया गया। चित्र देखते ही राजा के मन में अपनी पतिव्रता रानी के प्रति सन्देह उत्पन्न हुआ। वह सोचने लगा—'इस चित्रकार से रानी का गाढ़-सम्बन्ध अवश्य होगा, नहीं तो इस गुप्त चिन्ह को वह कैसे जान सकता था?' इस सन्देह का शिकार होकर राजा ने चित्रकार को मार डालने के लिए कहा। उसपर बहुत से लोगों ने बताया कि चित्रकार को यक्ष का वरदान है। दूसरे ज़रियों से राजा ने इस बात की जाँच की तो उसे भी इस बात का विश्वास हो गया। तब मृत्यु-दण्ड से तो उसने चित्रकार को माफ़ कर दिया, मगर एक अंगुली काटकर उसे अपने यहाँ से निकलवा दिया।

चित्रकार को यह बात बहुत बुरी लगी। उसमें प्रतिहिंसा का भाव जागृत हुआ; और राजा से उसने इसका बदला लेने का निश्चय किया। अतः अवन्ती के राजा चण्डप्रद्योत के पास वह गया और उसे रानी मृगावती का चित्र बताया। रानी का रूप-लावण्य तो अनुपम था ही, चण्डप्रद्योत उसपर मोहित हो गया; और उसे अपने हस्तगत करने के लिए उसने राजा शतानीक पर चढ़ाई करदी। शत्रु की विशाल सेना देखकर, युद्ध से पहले ही अतिसार-रोग से राजा शतानीक की मृत्यु हो गई।

इधर राजा की मृत्यु और उधर शत्रु की चढ़ाई। रानी मृगावती असमंजस में पड़ गई। उसे शोक तो बहुत हुआ, परन्तु किसी भी तरह क्यों न हो पर अपने सतीत्व एवं छोटे बच्चे की रक्षा करने का उसने निश्चय किया। इसके लिए उसने एक युक्ति सोची। वह यह कि अपनी दासी द्वारा अवन्ती-नरेश को कहलाया, कि "मेरे पतिदेव का

स्वर्गवास हुआ है और पुत्र उदयन अभी बच्चा है; अतः अभी तो माफ़ करो। जब उदयन बड़ा होकर राज करने के क़ाबिल हो जायगा, तब मैं आपके साथ चलूँगी। अभी तो अगर आपने बलात्कार किया तो मैं आत्महत्या ही कर लूँगी। इसलिए अभी तो मिहरबानी करके आप वापस ही चले जायँ। हाँ, आस-पास के शत्रु-राज्यों से मेरे राज्य को भारी भय है; इसलिए अगर आप अवन्ती से बड़ी-बड़ी ईंटें भेजकर एक मज़बूत क़िला बनवा दें तो मैं उनसे सुरक्षित रहूँगी।"

कामी राजा रानी को इस प्रकार सहज ही तैयार होते देख फूल उठा। उसे यह ख़याल भी न हुआ कि इसके पीछे कोई चाल होगी। अतः उसने रानी की बात मानली और अवन्ती से ईंटें मँगाकर कौशाम्बी के आस-पास एक मज़बूत क़िला बनवा दिया, यही नहीं बल्कि नगर में अन्न, घास, पानी आदि की भी पर्याप्त व्यवस्था करदी। जब क़िला बन चुका और सब व्यवस्था हो गई तो थोड़े-थोड़े समय बाद राजा चण्डप्रद्योत मृगावती को बुलाने के लिए दूत भेजने लगा। उसने रानी को कहलवाया—"मैंने अपना वचन पूरा कर दिया है, अब तुम भी अपने वचन का पालन कर मेरे साथ रहने के लिए चली आओ।"

विधवा रानी मृगावती ने जब दूत के मुँह से यह बात सुनी, तो उसे बड़ा गुस्सा आया और जवाब में उसने कहलवाया—"मूर्ख ! तू ऐसी दुष्ट अभिलाषा हर्गिज़ न रख। मैंने तो स्वप्न में भी तुमसे प्रेम नहीं किया। तुझे मालूम होना चाहिए कि मैं आर्य रमणी हूँ, पति ही सदा मेरा आराध्यदेव रहा है और जीवन-पर्यन्त वही मेरा आराध्य-

देव रहेगा। उस समय मैं निराधार और अरक्षित थी, इसीलिए अपनी रक्षा करने को उस समय मैंने वह चाल चली थी।"

मृगावती की बात जब राजा चण्डप्रद्योत ने सुनी, तो उसे विश्वास हो गया कि सचमुच इसने मुझे छकाया है। तब उसने मृगावती को धमकी भेजी, कि "अगर तू अपना और अपने पुत्र का हित चाहती हो तो शीघ्र यहाँ चली आ, नहीं तो मैं तेरे राज्य को मलियामेट कर डालूँगा।" परन्तु रानी मृगावती पर इस धमकी का कोई असर न हुआ। किले को बन्द कर वह आत्म-रक्षा के लिए तैयार होगई।

इसी बीच श्री महावीर स्वामी पर्यटन करते हुए वहाँ आये। उन्हें वहाँ आया देख मृगावती को बड़ी खुशी हुई। उसे विश्वास हो गया कि मेरी मदद के लिए ही प्रभु महावीर स्वामी यहाँ आये हैं। अतः बड़े हर्ष के साथ उसने इन परम-विद्वान् तीर्थंकर की पधरामणी की।

राजा चण्डप्रद्योत को महावीर-स्वामी के आने का हाल मालूम हुआ, तो वह भी उनका मधुर उपदेश सुनने के लिए मृगावती के नगर कौशाम्बी में गया।

महावीर-स्वामी जब उपदेश कर रहे थे, तो उन्होंने एक भील के पूर्वजन्म का हाल सुनाया और उसपर से बतलाया कि काम वासना से कैसे अनिष्ट परिणाम होते हैं। उन्होंने इतने सुन्दर ढंग से यह बात कही कि राजा चण्डप्रद्योत पर असर कर गई और उसका भी मन निर्मल हो गया। उधर पतिव्रता रानी मृगावती के हृदय में भी वैराग्य का संचार हुआ; अपना सतीत्व नष्ट करने के लिए तत्पर होनेवाले राजा चण्डप्रद्योत के प्रति उसका वैर-भाव नष्ट हो गया, और उसने

हाथ जोड़कर महावीर-स्वामी से कहा—"राजा चण्डप्रद्योत की मैं शरणागत हूँ, अतः उनकी आज्ञा हो तो मैं आपसे चारित्र ग्रहण करना चाहती हूँ।" राजा चण्डप्रद्योत ने तुरन्त उसे दीक्षा लेने की स्वीकृति देदी, और उसके पुत्र उदयन को कौशाम्बी का राजा बनाया।

पुत्र का राज्याभिषेक हो जाने पर सती मृगावती ने चण्डप्रद्योत की आठ रानियों के साथ धर्मदीक्षा लेली। महावीर स्वामी ने इन नवों स्त्रियों को शिक्षा-प्राप्ति के लिए साध्वी चन्दनबाला के पास रक्खा। वहाँ मृगावती ने धर्म की उच्च शिक्षा प्राप्त की। जैनधर्म के व्रत, अनुष्ठान आदि का उसने यथायुक्त रीति से पालन किया। फिर अपनी अपूर्व साधना से साधकों के लिए भी अति दुःसाध्या मानी जानेवाली कैवल्य-ज्ञान की सिद्धि भी उसने प्राप्त की थी। इसी ज्ञान के कारण, एकबार जब इसकी गुरु चन्दनबाला सो रही थी तो वहाँ घोर अन्धकार में एक साँप को आते हुए देखकर इसने अपनी उपदेशिका को उसके काटने से बचाया था।

मृगावती का जीवन एक आदर्शजीवन था। उसकी समय-सूचकता इस बात का स्पष्ट चिन्ह है कि वह एक 'अबला' या 'रमणी' ही नहीं बल्कि एक चतुर स्त्री और ऊँचे दर्जे की कूटनीतिज्ञ थी। आज भी हमारी बहनें उसके चरित्र से बहुत-कुछबोध और प्रेरणा प्राप्त कर सकती हैं

६

कसौटी पर उतरी हुई सती

सुभद्रा

यह सुभद्रा महाभारत-काल की अर्जुन-पत्नी सुभद्रा नहीं, जैन-काल की एक सती थी। वसन्तपुर नगर के राजा जितशत्रु के प्रधान जिनदास की यह पुत्री थी। और तत्त्वमालिनी इसकी माता का नाम था। इसके माता-पिता ने इसे धर्म और नीति-शास्त्र की ऊँची शिक्षा दी थी। वे जैनधर्मी थे, इसलिए बचपन से ही उन्होंने सुभद्रा को जैनधर्म के तत्त्वज्ञान की शिक्षा दी। पूजा-अर्चना तथा अतिथि-अभ्यागतों का स्वागत-सत्कार करने में यह बहुत प्रवीण थी। इसकी ये सब बातें देखकर, माता-पिता की इच्छा थी कि किसी सुपात्र जैन से ही इसका विवाह किया जाय।

इसी बीच बुद्धदास नामक चम्पानगरी का एक वणिक वहाँ आया। वह बौद्धधर्मानुयायी था। सुभद्रा का सौन्दर्य देख कर वह उसपर बहुत मुग्ध हुआ और मन में उसीसे विवाह करने की आकांक्षा करने लगा। जब उसने सुभद्रा के माता-पिता और कुल का पता लगाया तो उसे मालूम पड़ा कि सुभद्रा के माता-पिता किसी सद्गुणी धर्म-निष्ठ जैन के साथ सुभाद्रा का विवाह करना चाहते हैं। तब बुद्धदास

ने बौद्धधर्म छोड़ कर जैन-मार्ग ग्रहण किया; और अपने आचार-विचार तथा धर्म शास्त्र के ज्ञान से सुभद्रा के पिता को प्रसन्न कर सुभद्रा के साथ विवाह किया।

सुभद्रा-जैसी परम रूपवती, सद्गुणी और सुशिक्षित पत्नी प्राप्त होने पर बुद्धदेव के हर्ष का ठिकाना न रहा। कई वर्ष तक वह वसन्तपुर रहा, वहाँ से ख़ूब धन कमाकर वापस अपने गाँव गया। सुभद्रा भी उसके साथ अपनी ससुराल गई। वहाँ पहुँचने पर सुभद्रा ने अपने सास-ससुर को नम्रतापूर्वक प्रणाम किया। दूसरे दिन जब उसने अपनी सास से जैन-देवाश्रम में जाकर पूजा करने की आज्ञा माँगी, तब उसे मालूम पड़ा कि उसके ससुराल वाले सब बौद्ध हैं। सास ने सुभद्रा से कहा कि तुम भी जैन-धर्म छोड़ कर बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लो, परन्तु उसने ऐसा करना मंजूर न किया। इससे सास उसपर बड़ी अप्रसन्न हुई और रात-दिन उसमें ऐब निकाल-निकाल कर उसके विरुद्ध अपने पुत्र के कान भरने लगी। परन्तु बुद्धदास सब समझता था। उसने माता की बातों पर विश्वास कर सुभद्रा को दुःख नहीं दिया। वह तो सदा यही कहता कि सुभद्रा के सतीत्व में मुझे पूरा विश्वास है।

इस तरह दिन बीत रहे थे कि एक दिन एक जैन साधु सुभद्रा के यहाँ भिक्षा लेने आया। साधु की आँख में एक तिनका पड़ा हुआ था। शारीरिक सुख पर बहुत ध्यान नहीं देना चाहिए, यह सोच कर साधु ने अपनी आँख से तिनका निकालने का कोई प्रयत्न नहीं किया; परन्तु कोमल-हृदया सुभद्रा से साधु का यह दुःख न देखा

गया। अतः उसने अपनी कोमल जीभ से जैन मुनि की आंख का वह तिनका निकाल दिया। तिनका निकालते समय सुभद्रा के माथे से मुनि का माथा छू गया और संयोगवश सुभद्रा के मस्तक पर लगे हुए तिलक की केसर मुनि के मस्तक पर भी लग गई। साधु के मस्तक के उस निशान पर सुभद्रा की सास की नज़र पड़ी—फिर क्या था, उसे सबूत बनाकर, अपने पुत्र बुद्धदास के उसने कान भरे। फलतः उस दिन से बुद्धदेव भी अपनी पत्नी से नाराज़ रहने लगा। पति-प्रेम से वंचित होने की सुभद्रा के हृदय पर गहरी चोट लगी। उसने ईश्वर के ध्यान और व्रतों के अनुष्ठान में अपना मन लगाया और देवी-देवताओं से प्रार्थना की कि मुझे इस कलंक से मुक्त करो। आखिर प्रसन्न होकर देवी ने कहा—"सती! कल तू इस कलंक से मुक्त हो जायगी"।

दूसरे दिन सवेरे दरवान लोग शहर के दरवाजे खोलने गये तो एक भी दरवाज़ा न खुला। द्वारपालों को इससे बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने जाकर राजा को सब हाल सुनाया। सब हाल सुनकर राजा स्वयं दरवाज़ों पर गया, परन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी कुछ न हो सका। तब यह सोचकर कि अवश्य यह कोई दैवी प्रकोप है, वह मन-ही-मन ईश्वर से इसके लिए प्रार्थना करने लगा। तब आकाशवाणी हुई, कि "कोई सती स्त्री सूत के कच्चे धागे से चलनी में कुए से पानी निकाल कर दरवाज़ों पर छिड़केगी तब दरवाजों के किवाड़ खुलेंगे"।

आकाशवाणी सुनकर राजा ने तदनुसार ढोण्डी पिटवाई। और ऐसी स्त्री का राजद्वारा उपयुक्त सन्मान करने की घोषणा की गई।

इसके अनुसार नगर की अनेक स्त्रियों ने चलनी में पानी निकालने का प्रयत्न किया, पर सफलता किसी को भी नहीं मिली।

आखिर सुभद्रा ने अपनी सास से ऐसा करने की अनुमति माँगी; परन्तु सास ने उसकी बात को हँसी में ही उड़ा दिया। तब सुभद्रा ने नम्रता के साथ समझाया, कि "आप अभी तक मुझे कुलटा समझती हैं; अतः इस बात की परीक्षा का यह अच्छा मौका है कि मुझ में पति-भक्ति और सतीत्व है या नहीं। यदि मैं इस परीक्षा में पूरी उतरूँ तो आपको मानना होगा कि मुझपर लगाया गया दोष ठीक नहीं है, और यदि पूरी न उतरूँ तो कुल-कलंकिनी कुलटा मानकर मेरा त्याग कर देना।" आखिर सास ने उसकी बात मानली और सुभद्रा कुँए पर गई। कच्चे धागे से बँधी हुई चलनी में उसने कुँए से पानी निकाला और हज़ारों स्त्री-पुरुषों के सामने शहर के तीन दरवाज़ों पर छिड़का। पानी का छिड़कना था कि तीनों दरवाज़े तुरन्त खुल गये। तब उसने शहर की अन्य स्त्रियों को लक्ष्य करके कहा—"अब आपमें कोई और सती हो, तो चौथा दरवाज़ा वह खोले।" परन्तु किसी भी स्त्री ने उसे खोलने का साहस नहीं किया और वह सदा के लिए बन्द ही रहा।

इस प्रकार सुभद्रा के सतीत्व की परीक्षा हो गई और वह कसौटी पर बिलकुल खरी निकली। राजा उससे बहुत प्रसन्न हुए। और उसका बड़ा आदर-सत्कार किया। सुभद्रा को सास को भी अब पश्चात्ताप होने लगा, कि ऐसी शीलवान बहू को मैंने अबतक व्यर्थ ही सताया। उसने सुभद्रा से इसके लिए क्षमा माँगी। सती सुभद्रा ने उदारता के साथ उसे क्षमा करके जैन-धर्म का महत्व समझाया।

इसके बाद कई वर्ष तक पति-सुख भुगत कर सुभद्रा ने जैन मुनि से संन्यास की दीक्षा ली और अपनी दुःखी-अज्ञान बहनों के हृदय में सुख और ज्ञान का संचार करते हुए अपनी शेष आयु बिताई।

८

नेमिनाथ-पत्नी

राजीमती

राजीमती मथुरा-नरेश उग्रसेन की पुत्री थी और धारिणी इसकी माता का नाम था। द्वारिका-नरेश समुद्रविजय के पुत्र नेमिनाथ के साथ इसका विवाह हुआ था।

इसके विवाह का एक मजेदार क़िस्सा है। इसका ससुर राजा समुद्रविजय अपने पुत्र नेमिनाथ के विवाह के लिए बड़ी भारी बारात लेकर मथुरा गया था। मथुरा-नरेश ने अपने समधी का आदर-सत्कार करने में किसी तरह की कोई कसर न रक्खी। बारातियों की दावत के लिए उसने तरह-तरह के जानवरों को भी एक बाड़े में बन्द कर रक्खा था संयोगवश वर महाशय कुमार नेमिनाथ घूमते हुए उधर ही जा निकले, अतः बाड़े में बन्द पशुओं का आर्त्तनाद उनके कानों में पड़ा। उसे सुनकर उन्होंने अपने सारथी से कहा—"सारथी! यह आर्त्तस्वर किसका है?" जवाब में सारथी ने कहा—"कुमार! आपके विवाहोपलक्ष्य में महाराज उग्रसेन बड़ी भारी दावत करने वाले हैं, उसमें हमारे साथ आने वाले बारातियों को भिन्न-भिन्न प्रकार के गोश्त खिलाने के लिए इन तरह-तरह के जानवरों को एकत्र किया गया है। उन्हींके चीखने-पुकारने की आवाज़ें यहां तक आरही हैं।"

सारथी की बात सुनकर कोमल हृदय कुमार नेमिनाथ को बड़ा आश्चर्य हुआ यह सोचकर कि मेरे विवाह के निमित्त इतने निर्दोष जीवों का वध होगा, उनके हृदय में वैराग्य के भाव उत्पन्न हुए। अतः उन्होंने विवाह का विचार छोड़ कर तपस्या और धर्म-साधना का दृढ़ निश्चय कर लिया।

कुमार के इस निश्चय का पता लगने पर माता तथा अन्य सम्बन्धियों ने उन्हें बहुत-कुछ समझाया और संसार में रहने का बहुत-कुछ आग्रह किया, पर दृढ़-प्रतिज्ञ कुमार ने अपना संकल्प नहीं बदला और वन की ओर चल दिये।

राजीमती बहुत सुशील और विदुषी स्त्री थी। माता-पिता से उसे ऊँचे दर्जे की शिक्षा और अच्छे संस्कार प्राप्त हुए थे। नेमिनाथ पर वह सच्चे दिल से मुग्ध हो गई थी। नेमिनाथ को ही अपना हृदयेश्वर मान चुकी थी। ऐसी हालत में ऐन वक्त पर ऐसी घटना से उसके कोमल हृदय को कितनी चोट लगी होगी, इसकी कल्पना भली-भाँति की जा सकती है।

नेमिनाथ से उसका केवल विवाह ही हुआ था, विवाह का संस्कार तो एक भी नहीं हुआ था। इस लिए वह चाहती तो नेमिनाथ के साधु हो जाने पर किसी अन्य योग्य वर को पसन्द कर उससे विवाह कर सकती थी, परन्तु प्रेम-सूत्र से जुड़े हुए हृदय के लिए संस्कार तो एक बाह्य आडम्बर मात्र है। अतः इस बाह्य संस्कार की मुहर चाहे उसके और नेमिनाथ के सम्बन्ध पर न लगी हो, परन्तु राजीमती के मन के तो यह पवित्र सम्बन्ध अविच्छेद्य ही था। अतः किसी अन्य

पुरुष के साथ विवाह करने से उसने स्पष्ट इन्कार कर दिया और नेमिनाथ के अवलम्बन किये हुए मार्ग का ही अनुसरण करने का दृढ़ निश्चय किया।

अपने निश्चय को कार्यान्वित करने के लिए राजीमती ने योगिनी का वेश धारण किया और वन को चल दी। वन में वह अपने पति की खोज करने लगी।

नेमिनाथ इस समय गिरनार पर्वत पर निवास करते थे। अतः राजीमती ने गिरनार पर्वत पर जाकर उनके दर्शन किये, और उनसे धर्म की दीक्षा ली। उसका मन वैसे तो पहले ही संस्कारवान था, नेमिनाथ के उपदेश से वह और भी विमल हो गया। भक्ति-रस का स्रोत उसके हृदय में बहने लगा। राजकन्या न रह कर वह परमत्यागी संन्यासिनी हो गई। इसके बाद उसने अपना समस्त जीवन धर्म-चर्चा और लोक सेवा में ही व्यतीत किया।

एक दिन राजीमती पति-नेमिनाथ के दर्शनों के लिए गिरनार पर्वत पर जा रही थी, इतने में पानी बरसने लगा और उसके सारे कपड़े उससे भीग गये। गीले कपड़ों को सुखाने के लिए वह एक गुफा में गई और नंगी होकर सब कपड़े सुखाने को इधर-उधर फैला दिये। संयोग की बात है कि उसका देवर साधु रथनेमि भी इस समय इसी गुफा के एक कोने में बैठा ध्यान कर रहा था। राजीमती ने न उसे देखा, न उसका कोई ध्यान ही था, परन्तु रथनेमि की नज़र उस पर पड़ गई—और, अपनी भाभी राजीमती को नग्नावस्था में देखकर, उसके अप्रतिम सौन्दर्य से वह उसपर बहुत ही आसक्त हो गया। इस

समय यह सब ज्ञान उसे भूल गया कि मैं साधु हूँ, संसार का मैंने त्याग कर रक्खा है, किसी भी स्त्री पर कुदृष्टि डालने से सीधे नरक को जाना होता है। बस, राजीमती से भोग करने की बातें ही चारों ओर से उसके दिमाग में चक्कर लगाने लगीं।

सती राजीमती की निगाह भी उसपर पड़ी। उसे देखते ही उसने तुरन्त अपने गीले कपड़े पहन लिये; परन्तु रथनेमि के हृदय में उठी हुई कामाग्नि शान्त न हुई। एकान्त देख कामी रथनेमि उसका सतीत्व-भंग करने के लिए उतावला हो गया, और राजीमती को फुसलाने के लिए बड़ी मीठी-मीठी बातें करने लगा। देवर की काम-दृष्टि एवं काम-वासना युक्त बातों से सती राजीमती के हृदय को बड़ी गहरी चोट लगी। फिर भी उसने अपने मन को दृढ़ रक्खा और देवर को सम-झाने का प्रयत्न किया। उसने कहा—

"रथनेमिजी! देखो, आप और मैं, हम दोनों संसार-त्याग कर, साधु-वेश धारण करके, योगाभ्यास द्वारा निर्वाण पाने के लिए यहाँ आये हैं। इस पवित्र उद्देश के ही लिए हम सैकड़ों तरह के शारीरिक कष्ट भी उठा रहे हैं। अतः अब आपको अपना मन विचलित न होने देना चाहिए। जिस पवित्र आश्रम को आपने धारण कर रक्खा है, उसमें रहते हुए किसी भी स्त्री को विकार-दृष्टि से देखना घोर पाप है। जिस शरीर की सुन्दरता को देखकर आप कामान्ध हुए हैं, वह शरीर हड्डी, मांस, रक्त आदि गन्दी चीज़ों का पुतला होने के सिवा और क्या है? ज़रा सोचो तो सही। फिर पूर्वाश्रम में भी (सांसारिक दृष्टि से) आपके बड़े भाई की पत्नी होने के कारण आपके लिए मैं माता के

समान हूं। अतएव अपने मन से काम-विकार को एक दम निकालकर आप अपने चित्त को पवित्र बनायें। यह निश्चय जानें कि न केवल मेरी ही ओर प्रत्युत् किसी भी स्त्री पर कुदृष्टि डालने से आपको नरक-वास करना होगा।"

सती राजीमती की बोध-प्रद बातें सुनकर रथनेमि को अपने सन्यास-धर्म का ज्ञान हुआ और यह सोचकर वह बड़ा पश्चात्ताप करने लगा कि क्षणिक काम-विकार के वश होकर वह इतना बड़ा पाप करने को तैयार हुआ था। फिर तो वह राजीमती के चरणों में गिर पड़ा, और वार-वार अपने पाप-कर्म के लिए उससे क्षमा-याचना की।

इस प्रकार सती राजीमती ने न केवल अपनी सतीत्व-रक्षा ही की, प्रत्युत् कामान्ध देवर रथनेमि को भी अपने सदुपदेश से कुपथ पर जाते हुए रोक लिया। निश्चय ही ऐसी सती सदा हमारे आदर की पात्र रहेगी और रहनी चाहिए।

८

नित्य-स्मरणीया

श्रीदेवी

श्रीदेवी श्रीपुर नरेश श्रीधर की रानी थी। यह बड़ी स्वरूपवान थी। धार्मिक और सांसारिक ज्ञान का इसने अच्छा अभ्यास किया था। इसलिए विनय, आचार-विचार, नीति और स्त्री-धर्म आदि में यह प्रवीण थी। इसके गुणों के कारण राजा श्रीधर इससे बड़ा प्रेम करता था और इसके सम्पर्क में रहकर अपना जीवन सफल करता था।

एक बार श्रीदेवी के साथ राजा श्रीधर उद्यान में क्रीड़ा कर रहा था। कमलकेतु नामक गन्धर्व उधर घूमने के लिए आया था, वह श्रीदेवी का सौन्दर्य देख उसपर मोहित हो गया। तब माया से अदृश्य हो, वह श्रीदेवी को हरण करके अपने घर लेगया। वहाँ जाकर कामी कमलकेतु ने उससे सम्भोग के लिए कहा। दुराचार की बात सुनते ही श्रीदेवी ने अपने कान बन्द कर लिये और कहा—

"भाई कमलकेतु! ऐसी गन्दी बात न कर।" ज़रा अपने मन में विचार कर। जो पुरुष अपनी विवाहित स्त्री के होते परस्त्री-गमन करता है वह उस कौए के समान है, जो जल से भरे हुए सरोवर को छोड़ कर घड़े से जल पीने का प्रयत्न करता है। फिर परस्त्री-गमन

ऐसा पाप है, जिसके कारण नरक में जाना पड़ता है। इसलिए तू ऐसी दुराशा करके अपनी मानव-आत्मा को अधोगति में क्यों डालता है ?

"फिर, कमलकेतु ! शील का प्रभाव क्या तूने नहीं सुना ? याद रख, शील स्वर्गीय सुखों का द्वार है। शीलधारी, ब्रह्मचारी पुरुष को विमानवासी देवता, ज्योतिषी देवता, भुवनपति देवता, वृक्ष-निवासी यक्ष, राक्षस और व्यन्तर जाति के देवता सब नमस्कार करते हैं।"

श्रीदेवी के ऐसे उद्बोधन युक्त वचनों से कमलकेतु के ज्ञान जागृत हो गया। अतः उसने अपना दुष्ट विचार छोड़ दिया और पश्चात्ताप करता हुआ कहने लगा--"बहन ! मेरा अपराध क्षमा कर। तूने मेरी आत्मा को अधोगति में पड़ने से बचाया है। तू सच्ची सती है।"

यह कह कर कमलकेतु श्रीदेवी को वापस श्रीपुर पहुँचा आया। उसे वापस आई देख राजा श्रीधर आनन्द और आश्चर्य से मुग्ध हो गया। उसके गायब हो जाने पर जहाँ ग्लानि और दुःख से उसका हृदय भर रहा था, वहाँ उसके लौट आने पर हर्ष का वारा पार न रहा। पश्चात श्रीदेवी ने कमलकेतु की सारी हक़ीक़त सुनाई। उसे सुनकर सबको बड़ा सन्तोष हुआ।

इसके बाद एक और आश्चर्यप्रद घटना हुई। श्रीदेवी अकेली अपने निवासस्थान में रहकर धर्म तथा नीति की पुस्तकें पढ़ती हुई, उनमेंसे शिक्षा प्राप्तकर, अत्यानन्द को प्राप्त हो रही थी। अचानक, अदृश्य होकर कोई देवता उसके रहने की जगह आया। सती उसे देखकर हैरान रह गई।

देवता ने श्रीदेवी से कहा—"सुन्दरी ! मैं तुझसे संभोग करना चाहता हूँ। यदि तू दिव्य सुख की इच्छा रखती हो, तो मुझसे प्रेम कर।"

श्रीदेवी ने कहा—"देव ! तुम-जैसे देवता के लिए मनुष्य-लोक की स्त्री के साथ सम्भोग की इच्छा करना अपनी जाति के विरुद्ध और अवांछनीय है। फिर मैं तो पतिव्रत स्त्री हूँ। प्राण जाते हों तो भी, मैं तो पति के सिवा और किसी पुरुष की इच्छा नहीं करूँगी।"

श्रीदेवी के ऐसे दृढ़ वचन सुनकर देवता प्रसन्न हो गया; और श्रीदेवी से क्षमा माँग कर उसने कहा—"श्राविका-रत्न तू धन्य है! सचमुच, तू महासती है।"

यह कहकर, श्रीदेवी के सतीत्व की परीक्षा करके, देवता अपने स्थान को चला गया।

इसी प्रकार अपनी सारी ज़िन्दगी श्रीदेवी ने सती-धर्म का पालन किया और सती-धर्म पालन करते हुए ही अन्त में मरकर स्वर्ग गई।

महासती श्रीदेवी का जीवन सती-धर्म के लिए प्रख्यात है। अपने अल्प-जीवन में उसने स्त्री-शिक्षा की सुगन्धि अच्छी तरह फैलाई थी। स्त्री-शिक्षा का कितना उत्तम परिणाम होता है, शिक्षा-प्राप्त, स्त्रियां प्राणों की बाज़ी लगाकर भी अपने सती-धर्म का पालन करने में कैसे समर्थ हो सकती हैं, यह हम उसके जीवन पर से जान सकते हैं इसीलिए श्रीदेवी के सती-धर्म का इतना महत्व माना जाता है कि जैन सती-मण्डल में उस की गिनती है; और अपने नित्य-कार्य करते समय अभी भी जैनी लोग उसका यशोगान करते हैं,

९

देवता से सतीत्व-रक्षा करनेवाली

ज्येष्ठा

सती ज्येष्ठा जैनियों के चौबीसवें तीर्थंकर महात्मा श्री महावीर स्वामी के भाई नन्दिवर्धन की पत्नी थी। कुण्डग्राम के राजा सिद्धार्थ के यहाँ इसका जन्म हुआ था, और त्रिशला इसकी माता का नाम था।

ज्येष्ठा बहुत सुन्दर थी बाल्यावस्था से ही ऊँचे दर्जे की शिक्षा देकर, माता-पिता ने उसे सदाचारी और विवेकी बनाया था। तत्कालीन राजकुमारों में बहुत कुशल माने जानेवाले कुमार नन्दिवर्धन के साथ राजा सिद्धार्थ ने उसका विवाह किया। नन्दिवर्धन जैसा योग्य पति प्राप्त होने से ज्येष्ठा का सांसारिक जीवन बड़े सुखपूर्वक व्यतीत हुआ। रात-दिन पति और सास-ससुर की सेवा तथा धर्मानुष्ठान करने में वह अपना समय बिताती थी, और अपने सद्गुणों एवं अनन्य प्रेम से पति के ऊपर उसने सम्पूर्ण अधिकार जमा रक्खा था। नन्दिवर्धन उसे अपने कुटुम्ब की लक्ष्मी के समान मानता था।

सती ज्येष्ठा के अप्रतिम सौन्दर्य और उसके अनन्य पति-प्रेम की ख्याति संसार में ही नहीं, स्वर्गलोक में भी थी। एक बार देव-सभा

में इन्द्रदेव ने उसकी बड़ी प्रशंसा की और कहा, वह ऐसी दृढ़ पतिव्रता है कि देवता भी उसे विचलित नहीं कर सकते।

इन्द्र के मुँह से ऐसी प्रशंसा सुनकर एक देवता के मन में दुराग्रह का उदय हुआ और मन-ही-मन उसने कहा—'इस सती का सतीत्व नष्ट करूँ तभी मेरा नाम है।' इसी दुष्ट संकल्प को लेकर वह मर्त्य-लोक पहुँचा और एकाएक ज्येष्ठा को हरण करके ले गया। उसे एक भीषण बियाबान जंगल में ले जाकर खड़ी करदी और अपनी दिव्य शक्ति से वहाँ असंख्य हाथी, घोड़े, रत्न, पैदल सेना आदि उपस्थित कर दिये। फिर ज्येष्ठा से कहा—"सुन्दरी! देख, मैं राजा हूँ और यह सब मेरी सेना है। तू यहाँ एकदम अकेली है। यहाँ कोई तेरी रक्षा करे ऐसा कोई नहीं है। अतः चुपचाप तू मेरे साथ होले। मेरा वैभव अपार है, तू उस वैभव की स्वामिनी होगी; मैं तुझे अपने हृदय और गृह-राज्य की रानी बनाऊँगा तुझे सुख पहुँचाने में मैं कोई कसर न रक्खूँगा।" परन्तु ज्येष्ठा सती थी, उसने इस कपटी देवता की बातों पर कान ही नहीं दिया। अपने कानों में अंगुली ठूँसकर उसने कहा—"ओ अधममति पुरुष! तू तो क्या स्वयं इन्द्र स्वर्ग से उतरकर आवे तो भी मैं अपने पति के अलावा और किसी के साथ नहीं जाऊँगी। मेरे लिए तो मेरे पति ही तीनों लोकों में सबसे श्रेष्ठ पुरुष हैं। अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर भी मैं तो अपने पतिव्रत-धर्म का पालन करूँगी। तीनों लोकों के वैभव को भी मैं पति-प्रेम के सामने धूल के समान समझती हूँ।" लेकिन कामातुर देवता ने उसकी बातों पर कोई ध्यान न दिया और अपने दुष्ट उद्देश की सिद्धि के

लिए उसके साथ बलात्कार करने के लिए वह आगे बढ़ा। अब तो सती से न रहा गया, उसने चण्डी-रूप धारण कर महाक्रोधावेश में कहा—"खबरदार! एक क़दम भी आगे न बढ़; न अपनी दुष्ट भावना को ही व्यक्त कर। दुष्ट! याद रख, जो तूने बलात्कार का प्रयत्न किया तो मैं आत्म हत्या कर लूँगी; और उसका पाप तेरे ही सिर होगा।" ज्येष्ठा की ऐसी दृढ़ता देखकर देवता वहीं ठिठक गया वह समझ गया कि यहाँ मेरी दाल नहीं गलने की। अतः चुपचाप स्वर्ग को लौट गया।

कुमार नन्दिवर्धन को जब इस बात बातका पता लगा, तो उसके प्रति उसके हृदय का सद्भाव और भी सहस्रगुण बढ़ गया। पति-पत्नी दोनों ने प्रेमपूर्वक गृहस्थाश्रम में रहते हुए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थ का साधन किया। आख़िरी दिनों में, पति की आज्ञा से, ज्येष्ठा ने अपने देवर से जैनधर्म की दीक्षा ली; और संन्यासिनी होकर स्त्रियों को उपदेश करने में अपनी ज़िन्दगी बिताई, जिससे प्रभावित होकर अनेक स्त्रियाँ सन्मार्ग पर अग्रसर हुई थीं।

१०

ऋषभदेव-पुत्री (१)

ब्राह्मी

ब्राह्मी जैन महात्मा आदिनाथ प्रभु श्रीऋषभदेव की पुत्री थी। अयोध्या में इसका जन्म हुआ था और सुमंगला इसकी माता का नाम था। अपने माता-पिता से ब्राह्मी को बहुत-सी शिक्षा मिली थी, बुद्धि इसकी बड़ी तीव्र थी। अठारह प्रकार की लिपियों का इसे ज्ञान था, और लिखावट भी इसकी बहुत सुन्दर थी। यही नहीं बल्कि चित्रकारी में भी यह बड़ी प्रवीण थी। वर्तमान काल की भांति उस समय हरेक लड़की के लिए यह ज़रूरी न था कि वह विवाह करे ही, इसलिए अपने पिता श्री ऋषभदेव की आज्ञा से ब्राह्मी यावज्जीवन ब्रह्मचारिणी रही थी।

ऋषभदेव ने अपनी पिछली अवस्था में घर-गृहस्थी का कारो-बार पुत्रों के सुपुर्द करके दीक्षा लेली थी। पिता के सदुपदेश और अच्छी-अच्छी पुस्तकों के अध्ययन से ब्राह्मी का चित्त भी संसार से उठ गया था। ध्यान और शास्त्राध्ययन में ही वह अपना काल-यापन करती थी। आख़िर अपने पिता ऋषभदेव का हृदयग्राही उपदेश सुनकर, एक दिन उसने भी दीक्षा लेली।

दीक्षा लिये बाद ब्राह्मी ने संन्यासियों के धर्म का यथा रीति पालन किया और अपना सारा जीवन अन्य स्त्रियों को उपदेश एवं व्यावहारिक ज्ञान के अलावा गृह-धर्म एवं पतिव्रत धर्म का ज्ञान देने में व्यतीत किया।

अनेक वर्षों तक तपस्या करने के बाद यह मोक्ष को प्राप्त हुई थी।

११

ऋषभदेव-पुत्री (२)

सुन्दरी

सुन्दरी भी जैन महात्मा आदिनाथ श्री ऋषभदेव की ही पुत्री थी, सती ब्राह्मी, जिसका हम अभी वर्णन कर चुके हैं, इसकी सौतेली बहन होती थी। इसकी माता का नाम सुनन्दा था।

इसकी बुद्धि भी बड़ी तीव्र थी। इसके पिता ने, इसे गणितविद्या की अच्छी शिक्षा दी थी। गणित में इसकी पारदर्शिता देखकर उस समय के बड़े-बड़े विद्वान भी चकित रह जाते थे।

यह जैसी बुद्धिमती थी, वैसी ही सुशील और परोपकारिणी भी थी। इसका सौन्दर्य अनुपम था। विद्याभ्यास और अपनी कम पढ़ी-लिखी बहनों को सद्‌विद्या की शिक्षा देने में यह अपना समय बिताती थी।

बादमें इसने भी अपने पिता से जैन-धर्म की दीक्षा लेली थी। दीक्षा लेकर तपस्या के द्वारा इसने अपने शुद्ध चरित्र को और भी उज्ज्वल बना लिया था। अपने जीवन में इसने अनेक सत्कर्म किये थे। नगर-नगर और गांव-गाँव घूम कर इसने देश की अपनी बहनों को खूब उपदेश किया था। इसीलिए आजतक भी जैनियों में आदर और भक्ति के साथ इसका चरित्र गाया जाता है।

रति-सुन्दरी

रति सुन्दरी का जन्म साकेतपुर में राजा केसरी के घर रानी कमलसुन्दरी के उदर से हुआ था। रानी कमलसुन्दरी एक सद्‌गुणी, पतिव्रता और पढ़ी-लिखी स्त्री थी। अपनी कन्या को भी उसने सुशिक्षा देकर इन सब गुणों से विभूषित कर दिया था। फलतः राजकुमारी रतिसुन्दरी सदा धर्म-कार्य और धर्म-ग्रन्थों के अभ्यास में ही तल्लीन रहती थी।

जैनमार्गी संबंधियों से उसने जैनधर्म के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त किया था और उनके उपदेश से पातिव्रत-धर्म की महिमा उसके कोमल हृदय में भली-भाँति बद्धमूल हो गई थी।

वयः प्राप्त होने पर माता-पिता ने रतिसुन्दरी की सहमति से नन्दननगर के चन्द्रराजा के साथ उसका विवाह कर दिया। रति-सुन्दरी का अद्‌भुत सौन्दर्य, लावण्य और विद्वत्ता देखकर राजा चन्द्र उसपर मुग्ध हो गया; और ऐसी सती तथा विदुषी स्त्री के समागम से अपने हृदय को भी धार्मिक बनाकर सम्पूर्ण सुख-वैभव में अपने दिन व्यतीत करने लगा।

कुरुदेश का राजा महेन्द्रसिंह इन दिनों बड़ा बलवान और पराक्रमी माना जाता था। उसके दरबार में जाकर किसी ने रतिसुन्दरी के सौन्दर्य की बड़ी प्रशंसा की और कहा कि ऐसी सुन्दर स्त्री आजकल भारतवर्ष के किसी भी राजा के अन्तःपुर में नहीं है।

रतिसुन्दरी के रूप-सौन्दर्य की इतनी अधिक प्रशंसा सुनकर राजा महेन्द्रसिंह काम विह्वल हो गया; और रतिसुन्दरी को अपनी पत्नी बनाने का संकल्प करके, एक दूत को इसके लिए उसने राजा चन्द्र के पास भेजा। नन्दननगर में जाकर उसने राजा चन्द्र को अपने मालिक का सन्देश सुनाया। और रानी रतिसुन्दरी को दे देने के लिए अनेक प्रकार से उसे समझाया। राजाचन्द्र को इसपर बड़ा रोष आया। उसने इनका तिरस्कार करके वहां से निकलवा दिया, यही नहीं बल्कि परायी स्त्री को मांगने का अविवेक दिखाने के लिए उसके राजा महेन्द्रसिंह के लिए भी उसके मुंह से बड़े तीखे और कड़वे उद्गार निकले।

दूत ने यह सब बात जाकर महेन्द्रसिंह से कही। तब क्रोधावेश में राजा महेन्द्रसिंह ने बड़ी भारी सेना के साथ राजाचन्द्र के राज्य पर चढ़ाई करदी। राजाचन्द्र भी लड़ाई के लिए आ डटा। फलतः दोनों पक्षों के बीच घमासान युद्ध हुआ। परन्तु राजा महेन्द्रसिंह की सेना बहुत ज़्यादा थी, इसलिए युद्ध में राजा चन्द्र की पराजय हुई; और राजा महेन्द्रसिंह ने उसे ज़िन्दा पकड़कर क़ैद कर लिया। राजा का पकड़ा जाना था कि उसकी सेना भी अस्तव्यस्त हो गई। तब राजा महेन्द्रसिंह राजा चन्द्र के महल में जाकर रानी रतिसुन्दरी को पकड़

लाया—और, उसको अपने साथ अपने राज्य में ले जाकर, बाद में राजा चन्द्र को उसने छोड़ दिया।

रानी रतिसुन्दरी इस प्रकार अचानक पति से बिछुड़ पड़ने से बहुत दुःखी हुई। उसका मन तो रात-दिन पति में ही लगा रहता। चाहे जो हो फिर भी अपनी सतीत्व-रक्षा करने का उसने संकल्प कर रक्खा था।

राजा महेन्द्रसिंह ने एक भव्य राजमहल में रतिसुन्दरी को रक्खा। एक दिन कामातुर राजा रतिसुन्दरी के महल में पहुँचा और बड़ा प्रेम दरसाता हुआ कहने लगा—"ओ, कोमलाङ्ग सुन्दरी! यह तो तुझे मालूम ही है कि इस युद्ध का इतना परिश्रम मैंने किसके लिए किया था। ईश्वर-कृपा से आज मेरा परिश्रम सफल हुआ है, और तू मुझे मिल गई है। अब तू मेरी रानी बन और मेरी इच्छा पूर्ण करके अपने और मेरे जीवन को सफल कर।

राजा की यह बात सुनकर मन-ही-मन रतिसुन्दरी को उसके प्रति बड़ा तिरस्कार हुआ; और जिस सौन्दर्य के कारण यह स्थिति पैदा हुई, अपने उस सौन्दर्य को वह मन-ही-मन धिक्कारने लगी। आत्म-हत्या करने का उसने विचार किया; परन्तु फिर ख़याल आया कि ऐसा करने से तो फिर इस जन्म में पति से मिलने की कोई आशा ही नहीं रहेगी, अतः इसके बजाय कोई ऐसा उपाय खोजना चाहिए कि मेरा सतीत्व भी अक्षुण्ण रहे और भविष्य में किसी दिन पतिदेव के दर्शन भी हो सकें। यह सोचकर दूरन्देश रानी ने एक उपाय ढूँढ निकाला। वह यह कि अपने अन्तर का शोक और तिर-

स्कार अन्दर ही दबाकर हँसते हुए उसने राजा महेन्द्रसिंह से कहा—"आप मुझपर इतने अधिक प्रसन्न हुए हैं, तो मैं भी आपसे कुछ माँग लेना चाहती हूं। क्या आप देंगे ?"

अब तो राजा के हर्ष का क्या कहना था। बड़े उत्साह के साथ उसने कहा—"सुन्दरी ! तुझे जो-कुछ चाहिए, खुशी से कह। भला इस संसार में ऐसी क्या चीज़ है, जो मैं तुझे न दे सकूँ ? मैं तो अपना सारा राज्य तुझपर न्यौछावर करने को तैयार हूँ। अतः तेरी जो भी इच्छा हो, माँग ले।"

रतिसुन्दरी ने कहा—"महाराजा मेरी इच्छा है कि अभी आप मुझसे बोल-चाल का ही सम्बन्ध रक्खें। चार महीने तक अभी मैं ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना चाहती हूं, इसलिए इन चार महीने आप मेरे ब्रह्मचर्य का भंग न करें।"

कामान्ध राजा को चार महीने का विलम्ब लगा तो बहुत असह्य, परन्तु यह सोचकर इस बात को स्वीकार कर लिया कि ज़रा-सी बात के लिए रतिसुन्दरी को अप्रसन्न नहीं करना चाहिए।

रतिसुन्दरी ने उसी दिन से जैन शास्त्रों में वर्णित 'आम्बिल तप' का आरम्भ कर दिया। सुन्दर वस्त्राभूषणों का त्याग करके वह कठोर तपस्या में प्रवृत्त हो गई; और तपस्या के कारण दिनों-दिन कमज़ोर होने लगी।

एक दिन राजा महेन्द्रसिंह उसके पास गया। उसे इतनी दुबली-पतली देखकर वह आश्चर्य में पड़ गया। प्रेमपूर्वक उसने हाल-चाल पूछे। जवाब में रतिसुन्दरी ने कहा—"मुझे तो अब संसार से वैराग्य

हो गया है। चार महीने तक मुझे आम्बिल-व्रत का पालन करना है। इस बीच आप मेरे ब्रह्मचर्य का भंग करेंगे तो हम दोनों को नरक जाना पड़ेगा।

रतिसुन्दरी को इस प्रकार वैराग्य उत्पन्न हुआ देखकर राजा ने बड़ा आश्चर्य प्रकट किया, तब सती रतिसुन्दरी ने उसे ज्ञान मार्ग का बहुत-सा उपदेश देते हुए समझाया, कि "जिस शरीर की सुन्दरता पर आप मोहित हो गए हैं, वह शरीर तो मल-मूत्रादि ऐसी चीज़ों से भरा हुआ है जो बड़ी गन्दी और दुर्गन्ध-युक्त हैं। उसपर मोह रखना तो मूर्खता है।" परन्तु कामवश अन्धे बने हुए राजा महेन्द्रसिंह पर इस उपदेश का कोई असर नहीं हुआ। वह तो अपनी स्वीकार की हुई चार महीने की अवधि पूरी हो जाने के बाद रतिसुन्दरी के साथ सम्भोग करने के अपने निश्चय पर ही दृढ़ रहा।

धीरे-धीरे चार महीनों की अवधि पूरी होने लगी। रतिसुन्दरी ने देखा कि राजा की मति तो ज़रा भी नहीं बदली है, अब तो यह ज़रूर मेरा सतीत्व नष्ट करके रहेगा। तब पूर्ण एकाग्र मन से उसने शासन-देवी का स्मरण किया, और ऐसे संकट के समय अपनी सतीत्व-रक्षा की उनसे याचना की। रतिसुन्दरी की पति-भक्ति का ख़याल कर, उसकी सतीत्व-रक्षा के लिए, देवी ने उसका सब सौन्दर्य नष्ट कर दिया। अब तो सुन्दरी रतिसुन्दरी बड़ी बदसूरत बन गई और कोढ़ तथा रक्त पित्त आदि गन्दी बीमारियों से जकड़ गई। फलतः दूसरे दिन राजा जब उसके पास आया तो उसे ऐसी गन्दी बीमारियों से ग्रस्त और बदशकल देखकर चकित रह गया। ऐसी बदसूरत स्त्री का

हरण करके लाने के लिए वह पछताने लगा, और धीरे-धीरे उसके मन में भी वैराग्य का संचार हुआ। तब उसने रतिसुन्दरी को राजा चन्द्र के घर भिजवा दिया।

पति के पास पहुँचते ही देवी के आशीर्वाद से रतिसुन्दरी पुनः पहले जैसी ही सुन्दर बन गई। राजा चन्द्र उसकी दृढ़ता और पति-भक्ति देखकर बड़ा खुश हुआ। इसके बाद अनेक वर्षों तक दोनों ने पूर्ण सुख में दाम्पत्य-जीवन व्यतीत किया और रतिसुन्दरी की कीर्ति चारों ओर फैल गई।

१३

परीक्षित सती

नन्दयन्ती

सती नन्दयन्ती सोपारपुर में पैदा हुई थी। नागदत्त की कन्या और पोतनपुर के वणिक सागरपोत के पुत्र समुद्रदत्त की पत्नी थी। बाल्यावस्था में ही इसके माता-पिता ने इसे अच्छी शिक्षा दी थी, इसलिए इसका दाम्पत्य-जीवन सुख पूर्ण था।

समुद्रदत्त भी विद्वान और व्यापार-व्यवसाय में कुशल युवक था। एक दिन उसने सोचा—"मैं अपने पिता की ही कमाई पर कबतक मौज किया करूँगा? अब तो मैं बड़ा हो गया हूँ, अतः अबतो मुझे खुद ही कुछ धन्धा करना चाहिए।" यह सोचकर उसने अपने पिता से व्यापार के लिए परदेश जाने की आज्ञा मांगी, परन्तु यह अपने पिता का एकलौता बेटा था, इसलिए स्नेही पिता ने कहा—"बेटा! अपने यहाँ धन की क्या कमी है, जो तू कमाई के लिए परदेश जाता है? तेरे वैभव के लिए तो घर-बैठे ही बहुतेरी धन-सामग्री उपलब्ध है।" परन्तु समुद्रदत्त के मन में यह बात बैठी नहीं। उसने अपने पिता के अनेक प्रकार समझाया और अनेक इस प्रकार की दलीलें दीं, कि 'पुत्र को तो स्वावलम्बी होकर खुद ही धनोपार्जन करना चाहिए। परदेश में जाने से अनुभव और कुशलता बढ़ती है, जबकि घर

बैठे-बैठे मन संकीर्ण हो जाता है।' परन्तु पुत्रवत्सल पिता ने किसी भी प्रकार जाने की स्वीकृति नहीं दी। आखिर समुद्रदत्त ने चुपचाप भाग जाने का निश्चय किया।

एक दिन आधीरात को, जब कि सब जने गहरी नींद सो रहे थे, वह घर से निकल कर चल दिया। थोड़ी दूर जाने के बाद उसे खयाल आया, कि "मैं माता-पिता से बग़ैर मिले आया सो तो ठीक हुआ, पर यह मैंने ठीक नहीं किया कि अपनी प्यारी पत्नी से भी चलते वक्त मिलकर नहीं आया।" यह सोचकर वह वापस घर आया और बाहर खड़ा-खड़ा किवाड़ों के छेद में से नन्दयन्ती को झाँकने लगा। उसने देखा कि नन्दयन्ती इस समय जाग उठी थी और अपने पति को न देख चौधार आँसू बहा रही थी। अन्त में पति का वियोग असह्य होने के कारण वह अपने गले में फाँसी लगाकर मरने लगी। तब दरवाज़ा खोलकर समुद्रदत्त अन्दर गया और प्रेमपूर्वक पत्नी का आलिंगन करके उसे अपने परदेश जाने का कारण बताया। नन्दयन्ती समझदार स्त्री थी, अतः पति के श्रेय में ही अपना श्रेय मानकर विरह-वेदना को उसने मन-ही-मन दबाया और खुशी के साथ पति को परदेश जाने की स्वीकृति दी। तब समुद्रदत्त निश्चिन्तता के साथ परदेश चल दिया।

समुद्रदत्त चला गया। इसके तीसरे महीने नन्दयन्ती के गर्भ के चिन्ह प्रकट हुए। इसपर सास-ससुर सोचने लगे कि लड़का तो परदेश गया है और बहू गर्भवती हुई है, इसमें कुछ-न-कुछ गड़बड़ ज़रूर है। निर्दोष नन्दयन्ती के चरित्र की शुद्धता पर उन्हें शंका हुई,

अतः निष्करुण नामक अपने एक सेवक के द्वारा नन्दयन्ती को जंगल भिजवा दिया। जंगल में पहुँचकर जब नन्दयन्ती को अपने घर से निकाले जाने का कारण मालूम पड़ा, तो उसे बड़ा दुःख हुआ और आवेश में उच्चस्वर से कहने लगी—"मैं निर्दोष हूँ। अपने स्वामी के अलावा, और सब मेरे लिए भाई और बाप के समान हैं।" परन्तु निर्दयी नौकर उसे जंगल में छोड़ ही गया।

इसी समय अचानक मृगपुर का राजा वहाँ आया। नन्दयन्ती का विलाप सुनकर वह उसके पास गया और मीठे शब्दों में उसके दुःख का सब हाल पूछा। उसकी बातें सुनकर राजा को उसपर बड़ी दया आई। अतः नन्दयन्ती को ढारस बंधा, उसे अपनी बहन के समान समझकर, वह अपने साथ मृगपुर ले गया। वहाँ राजा की इच्छानुसार वह खूब दान-पुण्य करती, व्रत-नियमों का परिपालन करती और रात-दिन पति-स्मरण किया करती थी। यथासमय उसने एक पुत्र प्रसव किया और राजा अपने पुत्र की तरह उसका पालन करने लगा।

कुछ वर्ष बाद नन्दयन्ती का पति समुद्रदत्त व्यापार में खूब धन अर्जन करके वापस घर आया। घर आकर उसने अपनी पत्नी के इस प्रकार घर से निकाले जाने की खबर सुनी, तो उसे बड़ा दुःख हुआ। माता-पिता से उसने कहा, कि "आपने बड़ी भारी भूल की है। नन्दयन्ती बिलकुल निर्दोष है। उसे जो गर्भ रहा, वह मुझसे ही था।" इसपर सबको बड़ा पश्चात्ताप हुआ; और पत्नी-वियोग से व्याकुल समुद्रदत्त उसकी खोज में निकला। घूमता-फिरता अन्त में वह उसी नगर में जा पहुँचा, जहाँ नन्दयन्ती थी। नन्दयन्ती राजा की आज्ञा

से वहाँ दान-पुण्य करती थी। उसने एक बड़ा सदाव्रत खोला था; और खुद भी उसीके पास एक मकान में रहकर गरीब दुखियों का दुःख-निवारण करती थी।

संयोगवश समुद्रदत्त भी जब इस नगर में आया तो बहुत भूखा-प्यासा था। अतः उसने भी उस अन्न-क्षेत्र में जाकर अपनी क्षुधा निवारण की। उस समय दूर से उसने नन्दयन्ती को पहचान तो लिया, पर उसके सतीत्व की परीक्षा करके यह जान लेने का उसने निश्चय किया कि इतने दिन तक अकेली रहने से उसमें कोई अन्तर तो नहीं पड़ गया है। अतः गाँव की एक दूती को इसके लिए उसने नन्दयन्ती के पास भेजा। दूती ने जाकर नन्दयन्ती से कहा—"सुन्दरी! तू अपना जीवन इस प्रकार क्यों बिता रही है? देवकुमार-जैसा एक वणिक-पुत्र यहाँ आया है, वह तुझपर बहुत मुग्ध हो गया है। वह बहुत धनवान् है। अगर तू चाहे, तो उसके साथ में तेरा मेलजोल करादूँ।" पर नन्दयन्ती तो सती थी, वह उसकी बातों में न आई। उसने कहा--"मूर्ख स्त्री! आज तो तूने कहा सो कहा, पर आगे से ऐसी बात मेरे सामने कभी न करना। सती का तेज कैसा होता है, यह अभी तुझे मालूम नहीं। याद रख, तू ज़्यादा कुछ कहेगी तो मैं आत्म-हत्या कर लूँगी और उसका पाप तेरे सिर होगा।"

दूती ने वापस आकर समुद्रदत्त से सब हाल कहा। समुद्रदत्त अपनी पत्नी का पातिव्रत देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और अपने असली वेश में जाकर नन्दयन्ती से मिला। नन्दयन्ती ने पति को आते देखा, तो जल्दी से आगे जाकर उससे मिली। कितनी ही देरतक तो

खुशी के मारे उनके मुँह से कोई बात ही न निकली। दोनों खामोश रहे और आकस्मिक सम्मिलन के कारण उनकी आँखों से आनन्दाश्रु निकलने लगे। इसके बाद बहुत देर तक अपने-अपने सुख-दुःख की बातें करके उन्होंने अपने मनों को शान्त किया।

मृगपुर के राजा को यह शुभ समाचार मिला तो वह भी बहुत प्रसन्न हुआ; और बड़ी धूमधाम के साथ उसने नन्दयन्ती तथा उसके पति समुद्रदत्त को विदा किया। पश्चात् अनेक वर्ष तक सुखपूर्वक नन्दयन्ती और समुद्रदत्त का गार्हस्थ्य-जीवन व्यतीत हुआ।

नन्दयन्ती को इतने समय तक पति-वियोग का जो दारुण दुःख सहना पड़ा, जैन शास्त्रकारों के कथनानुसार, इसका कारण उसके द्वारा अपने पूर्वजन्म में भिक्षा माँगने आये हुए किसी साधु की उपेक्षा होना था।

१४

रोहिणी

सती रोहिणी बहुत सदाचारी और पतिभक्ता थी। पाटलिपुत्र के धनावह नामक एक सेठ से उसका विवाह हुआ था, जो एक साहसी व्यापारी था।

एक बार व्यापार के लिए धनावह दूर के किसी देश गया। उसकी अनुपस्थिति में सती रोहिणी सादगी से रहती और रात-दिन उसका ध्यान करते हुए पातिव्रत-धर्म का पालन करती थी।

गर्मी के दिन थे। एक दिन रोहिणी अपने घर के छज्जे में बैठी हुई थी। पाटलिपुत्र का राजा नन्द क्रीड़ा के लिए अपने उपवन में जा रहा था। संयोगवश छज्जे में बैठी हुई रोहिणी पर उसकी नज़र पड़ी। राजा नन्द और बातों में तो बड़ा अच्छा था, पर था बड़ा कामान्ध। रोहिणी का अपूर्व सौन्दर्य देखकर वह अत्यन्त काम-विह्वल हो गया। उसका मन रोहिणी के साथ क्रीड़ा करने के लिए छटपटाने लगा। फलतः घर जाकर उसने अपनी एक दूती को उसके पास भेजा। दूती ने अपने स्वभावानुसार बहुत-सी मीठी-मीठी बातें कहकर उसे ललचाया। परन्तु रोहिणी जाल में फँसनेवाली स्त्री न थी। वह समझ

गई कि राजा मेरा सतीत्व नष्ट करना चाहता है। पर, उसने सोचा, अभी जो मैं इन्कार कर दूंगी तो यह ज़बरदस्ती मुझे उड़ा ले जायगा; इसलिए कोई दूसरी तरकीब करनी चाहिए। यह सोचकर उसने दूती से कहा—"राजा से कहना कि उन्हें मुझसे मिलना हो तो रात के समय छिपकर मेरे घर आवें।" यह कह कर उसने दूती के हाथ भेजी हुई राजा की भेंट को भी स्वीकार कर लिया। दूती ने जब यह सब बात जाकर राजा से कही तो राजा बड़ा प्रसन्न हुआ और रात को सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर वह रोहिणी के घर गया।

रोहिणी ने राजा को आदर के साथ बैठाया और आप ज़मीन की ओर नज़र करके उसके सामने बैठी। फिर अपनी सखियों से राजा के लिए स्वादिष्ट भोजन बनवाये और एक दासी से बहुमूल्य थाल में फल-फूलादि लाने को कहा। राजा उन फलों को खाकर बड़ा प्रसन्न हुआ। इसके बाद रोहिणी उसे महल के ऊपर की चन्द्रशाला में ले गई। वहाँ चन्द्रमा की शीतल ज्योत्सना में राजा की आँख लग गई। कुछ देर बाद जब उसकी आँख खुली तो उसने पीने को पानी माँगा। रोहिणी ने पानी लाकर पिलाया और तरह-तरह की चीज़ों का भोजन कराया। भोजनोपरान्त राजा ने पूछा—"भोजन में कई चीज़ें तो स्वादिष्ट हैं और कई फीकी हैं, इसकी क्या वजह है?" रोहिणी ने कहा—"यह बात आपको समझनी चाहिए। जैसे इन-में स्वादिष्ट और बेस्वाद हैं वैसे ही स्त्रियाँ भी सरस और नीरस होती हैं। सुन्दर स्त्री को देखकर पुरुष भ्रम में पड़ जाता है, परन्तु अन्त में वह (सुन्दर स्त्री) भी नीरस ही निकलती है। यह कामातुर

पुरुषों की मूर्खता है जो सुन्दर स्त्रियों को देखकर फिसल पड़ते हैं। फिर, महाराज! आप तो सारी प्रजा के पिता हैं। राजा के लिए अनीति के मार्ग पर चलना बड़ा भारी कलंक है। अतः आपको तो इस मार्ग का अवलम्बन हर्गिज़ न करना चाहिए।"

रोहिणी के मुँह से ऐसी बातें सुनकर राजा का मन बदल गया। अपनी बुरी नीयत के लिए उसे बड़ा पश्चात्ताप होने लगा। खड़े होकर उसने बड़ी विनय के साथ रोहिणी से क्षमा मांगी और उसकी प्रशंसा करता हुआ अपने महल चला गया।

कुछ कालोपरान्त रोहिणी का पति सेठ धनावह परदेश से खूब धन कमाकर अपने देश लौट आया। उस समय रोहिणी ने यह सारा हाल उससे कहा। सेठ के मन में इससे रोहिणी के प्रति सन्देह का भाव पैदा हो गया। उसने सोचा कि मेरी अनुपस्थिति में इसने ज़रूर राजा से सम्भोग किया होगा। इस व्यर्थ सन्देह को लेकर वह रोहणी का त्याग करने की बात सोचने लगा।

इतने में एकाएक आकाश में बादल घिर आये, और आंधी-तूफ़ान के साथ मूसलधार वर्षा होने लगी। वर्षा से नदी-नालों में बाढ़ आ गई और शहर की ओर उनका पानी आने लगा। पाटलिपुत्र के निकट-वर्ती नदी में भी इस समय खूब बाढ़ आई और शहर में पानी घुसने लगा। यहां तक कि सारा शहर जल-मग्न होने का समय उपस्थित हो गया। ऐसे संकट में और कोई उपाय न देख राजा को सती रोहिणी का स्मरण हुआ। उसने उसको बुलवाया और कहा—"बहन! किसी तरह इस बाढ़ को रोक।" तब सती रोहिणी ने हाथ में जल लेकर

कहा—"यदि इस जन्म में मैं सच्ची पतिव्रता रही हूँ, तो इस जल का वेग रुक जाय।"

सती के मुँह से ये शब्द निकलने थे कि नदी का पानी आगे बढ़ना बन्द हो गया; और सब नगरवासी उसके सतीत्व की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। तब सेठ धनावह के मन से भी पत्नी के चरित्र सम्बन्धी सन्देह निकल गया।

इसके बाद सती रोहिणी ने पति-सेवा, व्रत-उपवास, धर्मानुष्ठान, सत्संग और परोपकार में अपना शेष जीवन व्यतीत किया।

१५

पति-मोह-निवारिणी

नागिला

मगध के सुग्राम नामक गांव में एक दम्पती रहती थी। पति का नाम आर्यवान राष्ट्रकूट था और पत्नी का रेवती। भवदत्त और भवदेव नाम के इनके दो पुत्र थे। भवदत्त ने अपनी युवावस्था में ही जैनाचार्य सुस्थित से दीक्षा लेकर संन्यास ले लिया था; और इतनी अच्छी तरह उसने इस व्रत का पालन किया कि थोड़े ही समय में वह आचार्य का अत्यन्त प्रिय शिष्य बन गया।

एक दिन भवदत्त वाले 'गच्छ' के एक साधु ने आचार्य से निवेदन किया—"आचार्य! मैं एक बार अपने सम्बन्धियों से मिलने जाना चाहता हूँ। वहाँ मेरा एक छोटा भाई है, उसका मुझपर बहुत स्नेह है। मैं उसके पास जाऊँगा तो मुझे देखकर वह भी ज़रूर संन्यास ले लेगा। अतः कृपया आप मुझे वहाँ जाने की आज्ञा दे दें।"

जगत् का उद्धार करने की इच्छा रखनेवाले आचार्य ने और भी कई शिष्यों को साथ करके उसे अपने भाई से मिलने जाने की आज्ञा दे दी।

आचार्य से आज्ञा पाकर शिष्य अपने पिता के घर गया। वहाँ उसके भाई के विवाह की तैयारियाँ हो रही थीं। बड़े समारोह से

विवाह का उत्सव हो रहा था। ऐसे अवसर पर वह वहाँ पहुँचा, पर उसका छोटा भाई तो विवाह के आनन्द में ऐसा निमग्न हो रहा था कि उसने इसकी कोई पूछ-ताछ ही नहीं की।

तब वह वापस अपने गुरु के पास गया और गुरु से अपने छोटे भाई के व्यवहार की बात कही। शिष्य के मुँह से सब हाल सुनकर भवदत्त को बड़ा रंज हुआ और उसने कहा—"ओह! तेरा छोटा भाई कितना कठोर है, कि घर पर होते हुए भी तुम-जैसे ऋषिव्रतधारी बड़े भाई की उसने बात भी न पूछी। क्या विवाह का आनन्द गुरु-भक्ति से भी श्रेष्ठ है, जो विवाह की ख़ुशी में वह तेरा भी सत्कार न कर सका?"

भवदत्त की बात सुनकर शिष्य-मण्डली में से एक ने कहा—"भवदत्त जी! तुम बड़े विद्वान् पंडित माने जाते हो, परन्तु हम तो तुम्हारा सच्चा पाण्डित्य तब जानेंगे जब तुम अपने छोटे भाई को संन्यासी बना लोगे।"

भवदत्त ने कहा—"गुरुदेव मगध में विहार करने जावें तो मैं तुम्हें यह कौतुक भी बताऊँगा।"

हिन्दू संन्यासियों की भाँति जैन श्रमण भी बहुत समय तक एक जगह नहीं रह सकते। धर्मोपदेश के लिए उन्हें जगह-जगह पर्यटन करना पड़ता है। पर्यटन करते-करते एक दिन आचार्य सुस्थित अपने शिष्यों के साथ मगध में जा पहुँचे। तब उनके चरणों में दण्डवत करके भवभक्त ने कहा—"गुरुदेव! मेरे सगे-सम्बन्धी यहाँ से बहुत पास रहते हैं। अतः आप आज्ञा दें तो एक बार मैं उनसे मिल आऊँ।"

भवदत्त संयतेन्द्रिय था, इसलिए आचार्य ने उसे अकेले ही घर जाने की अनुमति दे दी; दूसरे शिष्यों को उसके साथ भेजने की ज़रूरत नहीं पड़ी। तब अपने छोटे भाई को संन्यासी बनाने के इरादे से वह अपने घर गया। वहाँ भी भवदत्त के पहुँचने से कुछ ही देर पहले उसके छोटे भाई भवदेव का नागदत्त की कन्या नागिला के साथ विवाह हुआ था। घर विवाहोपलक्ष्य में आये हुए लोगों से खचाखच भरा था। बड़ी धूमधाम से विवाह के उत्सव हो रहे थे। भवदत्त को अचानक वहाँ आया देख सब सगे-सम्बन्धी प्रफुल्लित हो उठे; और विवाहोत्सव में और भी आनन्द मनाया जाने लगा। सबने भवदत्त के चरण धोकर चरणामृत की तरह उस पानी को पीया; और सब तरफ़ से लोग आ-आकर उसके चरण छूने लगे। मुनि भवदत्त ने उनसे कहा—"इस समय आप लोग विवाह के उत्सव-समारोह में हैं, इसलिए अभी मैं कहीं और जाता हूँ। आप सबका कल्याण हो!" परन्तु सगे-सम्बन्धियों ने उसे नाना प्रकार का भोजन कराये बग़ैर न छोड़ा।

उसका भाई भवदेव इस समय अपने कुल की प्रथा के अनुसार अपनी नवोढ़ा पत्नी के चन्दन लगा रहा था। जूड़े में सुगन्धित फूल गूँथ कर और मस्तक पर कस्तूरी के फूल-पत्ते बनाकर वह अन्य अंगों पर लेप करने की तैयारी में था, इतने में अपने बड़े भाई मुनि भवदत्त के आगमन की उसे ख़बर मिली। भाई के आने का उसे बड़ा हर्ष हुआ और उससे मिलने की खुशी में अपनी नवोढ़ा को अर्धालंकृत ही छोड़कर वह एकदम उठ खड़ा हुआ। नागिला की सखियों ने

कुल की इस प्रथा को इस प्रकार अधूरा छोड़कर अधबीच में ही जाने से उसे बहुतेरा रोका, पर भवदेव ने उनकी बात पर ज़रा भी ध्यान नहीं दिया। उसने कहा—"भाई सा० के दर्शन करके मैं अभी वापस आता हूँ।" इस प्रकार अपनी नवोढ़ा पत्नी को अर्धालंकृत छोड़कर भवदेव अपने भाई भवदत्त के पास गया और साष्टांग प्रणाम करके उसके सन्मुख खड़ा होगया। भवदत्त उसके हाथ में घी का बर्त्तन देकर घर से बाहर चल दिया। उसको जाते देख, उस बर्तन को स्वीकार करके, भवदेव भी बड़े भाई के पीछे-पीछे जाने को तैयार हुआ। यह देख और भी अनेक स्त्री-पुरुष भवदत्त के साथ हो लिये। भवदत्त ने किसी को ऐसा करने से मना नहीं किया—क्योंकि, ऐसा करना उसके कर्तव्य के विरुद्ध बात थी। बहुत दूर पहुँच जाने पर और सब तो भवदत्त मुनि को बिदा करके लौट आये, किन्तु उसके छोटे भाई भवदेव ने ऐसा नहीं किया। उसने अपने मन में सोचा—"ये तो लौट सकते हैं, क्योंकि ये कोई इनके सहोदर तो हुई नहीं; पर मैं तो मुनि भवदत्त का सहोदर हूँ, मैं भला कैसे लौट सकता हूँ? फिर इनके पास बोझ अधिक होने के कारण यह थक गये हैं, इसीलिए इन्होंने घी का यह पात्र मुझे पकड़ाया है। इसलिए इनको इनके ठिकाने तक पहुँचाये बग़ैर मुझे वापस नहीं लौटना चाहिए।" इस प्रकार विचार करके भवदेव अपने बड़े भाई मुनि भवदत्त के पीछे-पीछे हो लिया।

अब भवदत्त ने यह सोचकर कि शायद यह मेरे साथ न आना चाहता हो, उससे गृहस्थाश्रम की बातें करना शुरू किया। अपने

बचपन की बातों में दोनों भाइयों को बड़ा आनन्द आया; और इस प्रकार बातें करते हुए वे एक गाँव में आ पहुँचे। आचार्य सुस्थित इस समय अपने शिष्यों के साथ इसी गाँव में ठहरे हुए थे।

संकीर्ण विचारों वाले शिष्य वर-वेश में भवदेव को अपने भाई के साथ आता देख हँसने लगे, पर उसने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। जब सुस्थित सूरि ने पूछा, "भवदत्त! यह युवक कौन है?", तो उसने कहा—"महाराज! यह मेरा छोटा भाई भवदेव है; दीक्षा लेने के लिए यहाँ आया है।"

आचार्य ने भवदेव से पूछा—"क्यों भवदेव! क्या सचमुच तू संन्यासी बनना चाहता है?" तो उसने जवाब दिया—"मेरे भाई झूठ नहीं बोलते।" तब जैन आचार्य सुस्थित सूरि ने उसी दिन भवदेव को संन्यास की दीक्षा दे दी; और दो साधुओं के साथ भिक्षा के लिए जाने की आज्ञा दी।

इसी बीच भवदेव के सगे-सम्बन्धी वहाँ आ पहुँचे और भवदत्त से पूछने लगे, "भवदेव अपनी नव-परिणीता पत्नी को अर्धालंकृत दशा में छोड़कर चला आया है, वह कहाँ गया? उसके इस प्रकार एकाएक बिना कुछ कहे-सुने चले आने से घर पर तो बड़ी गड़बड़ मच रही है। इस बात की तो हमें स्वप्न में भी आशा न थी कि वह बिना किसी से कहे-सुने इस प्रकार एकाएक चला आयगा। बताओ वह कहाँ है?"

भवदत्त ने अपने छोटे भाई के भावी कल्याण का ख़याल करके झूठमूठ कहा, "वह यहाँ आया तो ज़रूर था, पर मुझे यह मालूम नहीं कि फिर वह कहाँ चला गया।"

सगे-सम्बन्धियों ने चारों तरफ़ उसकी खोज की, पर कहीं उसका पता न लगा; तब निराश होकर लौट गये ।

भवदेव की अब क्या स्थिति हुई होगी, यह सोचने की बात है। उसने तो केवल अपनी प्रबल भ्रातृभक्ति के कारण ही संन्यास-व्रत लिया था, इसलिए रह-रह कर उसके हृदय में अपनी नवपरिणीता प्रिय पत्नी नागिला का विचार उठने लगा। यह व्रत उसे बहुत अखरता-पर अब तो इसे निवाहे बग़ैर छुटकारा ही नहीं था । कालान्तर में उनके बड़े भाई भवदत्त ने अनशन व्रत ग्रहण करके देह-त्याग किया । तब भवदेव सोचने लगा—"मैंने तो अपने बड़े भाई के आग्रह से इतने दिनों तक इस संन्यास-व्रत का पालन किया है। अब वह स्वर्गवासी हो गये, तो अब मुझे इस कष्टसाध्य व्रत की क्या ज़रूरत है ? नागिला को मेरे विरह में जो वेदना होती होगी, उसके सामने संन्यास का मेरा यह दुःख किसी भी गिनती में नहीं है । वह बेचारी कितनी दुःखी होगी ! अपनी उस प्रियतमा को जीवित देख सकूँ तो मैं आज ही गृहस्थाश्रम स्वीकार कर उसके साथ आनन्द में दिन बिताऊँगा ।"

इन्हीं विचारों में भवदेव का मन बड़ा व्याकुल हो गया । एक दिन आचार्य से आज्ञा लिये बिना ही वह आश्रम से चल दिया और अपने जन्मस्थान सुग्राम में पहुँचा । वहाँ एक घर के बन्द दरवाजे पर वह बैठ गया । कुछ देर बाद एक ब्राह्मणी के साथ एक स्त्री वहाँ आई और मुनि-वेश में बैठे हुए भवदेव के दर्शन करके पुष्प-माला से उसकी पूजा की। भवदेव ने उससे अपने माता-पिता के बारे में दर्याफ्त किया कि वे

जिन्दा हैं या नहीं ? तो उसने जवाब दिया, कि "वे तो कभी के मर चुके।" तब उसने पूछा—"उनका पुत्र भवदेव अपनी नव-परिणीता पत्नी को छोड़कर चला गया था, वह स्त्री तो जिन्दा है न ?" यह सुनकर मन-ही-मन वह स्त्री भवदेव को पहचान गई, फिर भी निश्चय करने के लिए उसने पूछा—"क्यों महाराज, कहीं आप ही तो भवदेव नहीं हैं ? क्या मैं जान सकती हूँ कि आप यहाँ कैसे आये हैं ?"

भवदेव ने कहा—"हाँ, मैं ही वह अभागा भवदेव हूँ। अपनी खुद की इच्छा न होते हुए भी बड़े भाई के आग्रह से मैंने संन्यास, ग्रहण किया था। पर अब वह मर गये, अब मैं निरंकुश हूं। मेरी प्रियतमा नागिला की क्या दशा है, यह देखने के लिए ही मैं आज यहाँ आया हूँ।"

कहने की ज़रूरत नहीं कि भवदेव के साथ उपर्युक्त वार्तालाप करनेवाली स्त्री नागिला ही थी। इतने वर्षों में पति-वियोग से उसकी मुखाकृति इतनी निस्तेज होगई थी कि भवदेव उसे पहचान नहीं सका। आखिर अपना परिचय देने के लिए धीमी आवाज़ में नागिला ने कहा—"मैं ही वह नागिला हूँ, जिसे नव-परिणीतावस्था में त्याग कर आप चले गये थे। भगवन् ! ज़रा सोचकर देखो कि अब मुझमें क्या लावण्य रह गया है। स्वामी ! स्वर्ग के सुख का त्याग करके अब आप मुझे ग्रहण न करें। महाघोर नरक में डालनेवाले विषय-भोग और काम-वासनाओं के वश अब आप न हों। यह ठीक है कि आपके भाई ने प्रपंच करके आपसे यह व्रत धारण कराया, परन्तु इसमें आपका परलोक सुधरे, यही उनका उद्देश था। अब

पाप-पुञ्ज मेरे इस शरीर पर अनुरक्त होकर आप अपने स्वर्गीय भाई के प्रति अपने प्रेम को न छोड़ें। अतः फिरसे गृहस्थ के झंझट में पड़ने का विचार छोड़कर आप आज ही लौट जायँ और गुरुदेव की शरण जाकर अपनी इस अनुरागजनित पाप-बुद्धि के लिए उनसे क्षमा-याचना करें।"

नागिला अपने पति भवदेव को इस प्रकार समझा रही थी, इतने में उसके पास खड़ी हुई ब्राह्मणी का लड़का किसी यजमान के घर से खूब खीर खाकर वहाँ आया और अपनी माँ से कहने लगा—"माँ! आज मैंने अमृत-जैसी मीठी खीर खाई है। तुम कोई बर्तन धरो तो मैं उसमें उलटी करूँ, क्योंकि मुझे एक और जगह भी निमंत्रण मिला है और पहला खाया हुआ वमन-द्वारा निकले बग़ैर दुबारा भोजन नहीं हो सकता और भोजन नहीं किया तो यजमान दक्षिणा भी नहीं देगा। दक्षिणा लेकर जब लौटूंगा तो इस खीर को खा लूँगा। मैंने ही तो उलटी करके उसे निकाला है और मैं ही फिर उसे खाऊँगा। अपना उगला हुआ आप खाने में क्या शर्म है?"

पुत्र के मुँह से ऐसी गन्दी बात सुनकर माता ने कहा—"बेटा! उलटी करके खाने से लोग बड़ी निन्दा करेंगे। ख़बरदार, जो कभी तूने ऐसा किया।"

भवदत्त ने भी ब्राह्मणी की बात का समर्थन करते हुए कहा—"बच्चे! तू अगर उलटी किया हुआ अन्न खायगा तो कुत्ते से भी नीच गिना जायगा।"

इस सुन्दर अवसर का उपयोग कर नागिला ने कहा—"तपोधन! जब आप इतना ज्ञान रखते हैं तो मुझे वमन किये बाद, एक बार छोड़

कर, फिर ग्रहण करने का विचार क्यों ? मैं तो अत्यन्त अधम हूँ—रक्त, मांस, हड्डी आदि महानिकृष्ट पदार्थों की बनी हुई हूँ; ऐसी हालत में मेरे साथ पुनः सम्बन्ध जोड़ते हुए आपको लज्जा न आयगी? पर्वत पर लगनेवाली आग तो आप देख सकते हैं, पर अपने पैरों-तले लगी हुई आग को देखते ही नहीं; दूसरों को तो उपदेश देते हैं, पर स्वयं आप उसके अनुसार नहीं चलते। लेकिन जो आदमी दूसरों को उपदेश देने में ही बहादुरी दिखाये, उसकी गणना पुरुषों में नहीं होती; सच्चा पुरुष तो वही है, जो अपने आपको सलाह और उपदेश देने में प्रवीण हो।"

सती नागिला की ऐसी बातें सुनकर भवदेव ने कहा—"देवी, आज तूने मुझे बहुमूल्य उपदेश दिया है। आजतक मैं मोहान्ध होकर उलटे रास्ते जा रहा था, पर आज तेरे उपदेश से ठीक रास्ते पर आगया हूँ। अतः सगे-सम्बन्धियों से एक बार मिलकर मैं गुरुदेव के पास लौट जाऊँगा और अपने मनोविकार के लिए पश्चात्तापपूर्वक उनसे क्षमा-याचना करके उनके उपदेशानुसार कठोर तपस्या का आरम्भ करूँगा।"

आचार्य सुस्थित के पास जाकर भवदेव ने पुनः धर्म-साधना आरम्भ की; और सती नागिला भी पति से दीक्षा ले संन्यासिनी बनकर धर्म-चर्या में तल्लीन होगई।

सती नागिला का दृष्टान्त भी आर्यशास्त्र में एक अनुपम दृष्टान्त है। इससे मिलता हुआ ही एक आख्यान बोधि-सत्वावदान कल्प-लतिका (दशम पल्लव) में भी मिलता है। उस आख्यान का नन्द भी

सुन्दरी के लिए इतना ही अनुरक्त हुआ था। जैसे भवदेव ने भाई के आग्रह से संन्यास-व्रत लिया था वैसे ही नन्द ने भी भगवान बुद्धदेव के आग्रह से संन्यास लिया था और वह भी बाद में सुन्दरी के विरह से व्याकुल हुआ था तथा अन्त में भगवान बुद्धदेव ने उसका उद्धार किया था।

१६

स्वयंवरा

कलावती

कलावती देवशाल-नरेश विजयसेन की कन्या थी। इसकी माता का नाम श्रीमती था। श्रीमती एक विदुषी स्त्री थी। कलावती उसकी एकलौती पुत्री होने के कारण, कलावती पर उसे विशेष स्नेह था। परन्तु उसने अपने प्रेम का प्रदर्शन ऊपरी लाड़-प्यार में न कर, कलावती को अनेक शास्त्र तथा कलाओं एवं नीति की उच्च शिक्षा देने में किया।

शिक्षा प्राप्त कर जब कलावती विवाह के योग्य हुई तो बुद्धिमान माता-पिता ने इस बारे में उसका अभिप्राय पूछा। कलावती ने कहा— "मैं विवाह तो करूँगी, पर ऐसे पुरुष से करूँगी जो मेरे चार प्रश्नों का उत्तर देदेगा।"

जिस समय का यह ज़िक्र है उस समय मंगला देश में शंखराज नामक एक प्रजावत्सल राजा राज्य करता था। एक दिन दत्त नामक एक साहूकार उसके राज्य में पहुँचा। उसने अपने प्रवास का वर्णन करते हुए कलावती के रूप, गुण और बुद्धि की बड़ी प्रशंसा की तथा उसका एक चित्र भी अपने पास से निकाल कर बताया। देवाङ्गना के समान दीप्तिमान सुन्दरी कलावती का चित्र देखते ही राजा उसपर

मोहित होगया और उसके गुणों का वर्णन सुनकर उससे विवाह करने की उत्कण्ठा उसके मन में जागृत हुई। साहूकार से उसे यह भी मालूम होगया कि कलावती ने अपने चार प्रश्नों का उत्तर देनेवाले को वरण करने की प्रतिज्ञा कर ली है। अतः उसके प्रश्नों का उत्तर देने की योग्यता प्राप्त करने के लिए उसने अपना बहुत-सा समय विद्वानों की संगति और अच्छे-अच्छे ग्रन्थों के अध्ययन में लगाना शुरू किया।

कलावती के लिए उसके पिता ने स्वयंवर की व्यवस्था की। अनेक राजा-महाराजा परमसुन्दरी कलावती को व्याहने की अभिलाषा से उस स्वयंवर में आये। राजभट्ट ने ऊँची आवाज़ में कहा—"जो कोई राजकुमारी के चार प्रश्नों का उत्तर देगा उसीके गले में वह अपनी वर-माल डालेगी। राजकुमारी के चार प्रश्न ये हैं—*(१) देवता कौन है? (२) गुरु कौन है? (३) तत्त्व क्या है? और (४) सत्त्व किसे कहना चाहिए?"*

राजाओं ने उत्तर देने शुरू किये। अनेक राजाओं ने चारों प्रश्नों के उत्तर दिये, किन्तु जैनधर्म से प्रेम रखनेवाली राजकुमारी को वे नहीं रुचे। परन्तु शंख राजा के उत्तर उनसे भिन्न प्रकार के थे। उसने कहा—"(१) वीतराग ही परम-देवता है, (२) पंच महाव्रत धारण करनेवाला परमगुरु है, (३) प्राणिमात्र पर दया रखना ही तत्त्व है, और (४) इन्द्रियों पर निग्रह रखना ही सत्त्व है।" कलावती इस उत्तर से बहुत प्रसन्न हुई और राजा शंख के गले में उसने अपनी वरमाला पहनादी। पश्चात् विधिपूर्वक विवाह-संस्कार हुआ और राजा ने खूब दान-दहेज के साथ कलावती को राजा शंख के साथ विदा किया।

राजा शंख और रानी कलावती का एक-दूसरे पर बहुत प्रेम हुआ और बड़े सुख के साथ उनका गार्हस्थ-जीवन व्यतीत होने लगा। कुछ समय बाद कलावती गर्भवती हुई, और आठ महीने का गर्भ हो जाने पर पीहरवाले उसे लेने आये। उनके साथ उसके भाई जयसेन ने उपहार के तौर पर बहन के लिए कई कपड़े और दो कंकण भी भेजे। पर राजा शंख ने कलावती को भेजना स्वीकार नहीं किया। तब कलावती को जयसेन का उपहार देकर वे लोग वापस चले गये। कलावती ने भाई के उपहार को प्रसन्नतापूर्वक धारण किया। पर एक दिन यही उपहार उसके दुःख का कारण हुआ।

झरोखे में बैठी हुई कलावती अपनी सखी से बातें कर रही थीं। बातों-ही-बातों में उसने सखी से कहा—"देख री बहन! उनका मेरे ऊपर कितना प्रेम है, जो मेरे लिए ऐसे अच्छे कंकण भेजे हैं। देख तो सही, इनसे मेरे हाथ कैसे सुन्दर लगते हैं।"

संयोग की बात है कि राजा इसी समय झरोखे के नीचे होकर कहीं जा रहा था। उसके कान में यह बात पड़ी, तो उसे अपने मन में सन्देह हुआ कि अवश्य रानी का किसीसे गुप्त प्रेम है। इस शंका का उत्पन्न होना था कि उसका रोम-रोम क्रोध से जल उठा। दो चण्डालों को बुलाकर उसने हुक्म दिया—"जाओ, रानी को जंगल में छोड़ आओ और कंकणों-सहित उसके दोनों हाथ काटकर मेरे पास लाओ।"

राजा की आज्ञानुसार चण्डाल रानी को बन में ले गये और उसे राजा का हुक्म सुनाया। रानी ने सोचा कि अपने कर्मों के

दोष से ही मेरे ऊपर यह दुःख आया होगा। यह सोचकर शान्ति-पूर्वक उसने चण्डालों के आगे अपने हाथ कर दिये और वे उन्हें काटकर राजा के पास ले गये।

जंगल में ही कलावती के पुत्र पैदा हुआ। उस समय उसे मर्म-वेदना हुई। पुत्र को सम्बोधन करके वह कहने लगी—"अरे! पिता के घर तेरा जन्म होता तो आज गाजे-बाजे के साथ बड़ी शान से उत्सव मनाया जाता; परन्तु हा! आज तो मेरी ऐसी दशा है कि सियार, लोमड़ी आदि जंगली जानवरों की आवाज़ से ही तेरा जन्मो-त्सव मन रहा है।"

इतने में नदी में भयंकर बाढ़ आई। अनेक घर, वृक्ष तथा मनुष्य उसमें बहने लगे। तब कलावती को परमेश्वर का स्मरण हुआ। भगवान को सम्बोधन करके उसने कहा—"मन, वचन और शरीर से यदि मैंने अपने पतिव्रत-धर्म का पालन किया हो और शील-व्रत को पूरी तरह निबाहा हो, तो मेरे दोनों हाथ ठीक हो जायें और नदी का प्रवाह भी अनुकूल हो जाय।" इसी समय एक तपस्वी वहाँ आया और कलावती को उसके नवजात शिशु के साथ अपने आश्रम में ले गया। वहाँ तपस्विनियों के साथ कलावती सुखपूर्वक धार्मिक जीवन बिताने लगी।

उधर चण्डाल कलावती के दोनों हाथ लेकर राजा के पास गये। राजा ने कंकणों को हाथ में लेकर देखा तो उनपर अपने साले जयसेन का नाम खुदा हुआ था। इसपर उसने जाँच की तो मालूम पड़ा कि भाई ने ही बहन को यह उपहार भेजा था और झरोखे में बैठी रानी

अपने भाई के शुद्ध प्रेम की ही बात कर रही थी। तब तो राजा को बड़ा पश्चात्ताप हुआ, यहाँ तक कि चिता में जल मरने को तैयार होगया; परन्तु मंत्री ने समझा-बुझाकर उसे ऐसा करने से रोका।

अब राजा ने अपने विश्वस्त मित्र दत्त को रानी की शोध में भेजा; और आप भजन, पूजन तथा धर्म-चर्चा में अपना समय बिताने लगा। खोज करने पर तपस्वियों के आश्रम में दत्त को कलावती का पता लगा। कलावती दत्त को पहचानती थी; अतः उसको देखते ही कलावती का शोक उमड़ आया और वह रोने लगी। दत्त ने उसे आश्वासन दिया और राजा के पश्चात्ताप का हाल कहा। इसपर कलावती के हृदय में अपने पति के प्रति करुणा का संचार हुआ और मुनिवर को प्रणाम कर, उनकी अनुमति प्राप्त करके, वह पति के पास चलदी। वहाँ गाजे-बाजे के साथ पति ने उसका स्वागत किया और कहा—"देवी! निर्दोष होते हुए भी तेरे साथ मैंने जो घातक व्यवहार किया, उसके लिए मैं तुझसे क्षमा चाहता हूँ।" पर कलावती तो इससे पहले ही उसे क्षमा कर चुकी थी, क्योंकि कुलीन स्त्रियाँ पति के दोष को कभी हृदय में स्थान देती ही नहीं।

इसके बाद फिर इनका संसार सुखमय होगया। पुण्यकलश पुत्र का नाम रक्खा गया; और उसके बड़े होने पर, उसे राज्य सौंप, राजा-रानी ने दीक्षा ले ली। पश्चात् बहुत समय तक चारित्र का पालन करके पति-सहित कलावती ने स्वर्ग प्राप्त किया।

१७

ज्ञान-पिपासु

जयन्ती

जयन्ती राजा सहस्रानीक की पुत्री और कौशाम्बी-नरेश उदायन की फूफी थी। राजा इसका बड़ा सन्मान करता था।

महावीर स्वामी इस समय भारतवर्ष में जैनधर्म का प्रचार कर रहे थे। घूमते-घूमते वह कौशाम्बी भी पहुँचे। राजा उदयन ने उनके समागम की खुशी में सारे नगर को अच्छी तरह सजाया और बड़ी श्रद्धा के साथ महावीर स्वामी की पधरामणी करके यथाविधि उनकी पूजा की।

राजकुटुम्ब की महिलायें भी महावीर स्वामी के दर्शनों को आईं। और सब स्त्रियाँ तो दर्शन करके चली गईं, परन्तु परम-विदुषी और ज्ञान-पिपासु जयन्ती वहीं बैठी रही और स्वामी का उपदेश सुनने लगी। उपदेशोपरान्त तत्त्वज्ञान के कई गूढ़ प्रश्नों सम्बन्धी अपनी शंकाओं का समाधान करने के उद्देश से उसने महावीर स्वामी से पूछा—"भगवन्! जीव भार-कर्मी किस प्रकार होता है?"

महावीर स्वामी ने जवाब दिया—"जयन्ती! अठारह पाप-कर्म करने से जीव भार-कर्मी होता है।"

जीव-हिंसा, असत्य-भाषण आदि उन अठारह दोषों को बताकर विस्तार से जब महावीर स्वामी ने समझा दिया, तब जयन्ती ने पूछा—"भगवन्! स्वप्नावस्था की अपेक्षा जाग्रतावस्था में मनुष्य कर्मों का बोझ अधिक बाँधते हैं, अतः प्राणियों का सोते रहना अच्छा है या जागते रहना ?"

इस प्रश्न से प्रसन्न होकर महावीर स्वामी ने कहा---"जो प्राणी चारित्र-धर्म का अनुसरण न करते हों, बड़ों का कहना न मानते हों, दूसरों को धर्मोपदेश न करते हों, धर्म पर जिनकी भक्ति न हो, अपने धर्म पर जिनकी भक्ति न हो, अपने कुलाचार का जो पालन न करते हों, और जो अनीति एवं दुराचार का सेवन करते हों, ऐसे मनुष्य बिस्तर में पड़े-पड़े खुर्राटे लेते रहें तो ही ठीक है; क्योंकि वे जागते रहेंगे तो अन्य प्राणियों के दुःख का कारण होंगे। इसके विरुद्ध जो सदाचारी, धार्मिक, परोपकारी, साधु-सन्त और अपने बड़ों की सेवा करनेवाले, नीति और धर्म के अनुसार आचरण करनेवाले हैं, उनका जागते रहना ही ठीक है; क्योंकि वे जन-समाज तथा अन्य प्राणियों का अनेक प्रकार हित कर सकते हैं।

इसके बाद जयन्ती ने पूछा—"जीव बलवान अच्छा या निर्बल ?"

इसका उत्तर भी उसी प्रकार विस्तार से देकर महावीर स्वामी ने बताया, "पहले बताये हुए पापी जीवों का दुर्बल होना ही अच्छा है; क्योंकि उनके दुर्बल होने से अन्य प्राणी दुःख से बचते हैं। पर जिन्हें मैंने धर्मात्मा बताया है वे लोग बलवान हों, यही अच्छा है; क्योंकि वे अपने बल से सब तरह के जीवों की रक्षा और भलाई करते हैं।"

जयन्ती ने और पूछा—"जीव उद्यमी अच्छे या आलसी ?"

इसके जवाब में स्वामीजी ने कहा—"धार्मिक जीव उद्यमी अच्छे हैं; क्योंकि वे आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, विद्यार्थी, संघ तथा जन-समाज की सेवा करते हैं। पर पापी जीवों का आलसी रहना ही ठीक है; क्योंकि आलस्य में पड़े रहें, उतने समय तो वे दुष्कर्म से बचे ही रहते हैं।"

और भी कई प्रश्नों का जयन्ती ने महावीर स्वामी से समाधान कराया था। इसपर से मालूम पड़ता है कि यह कितनी असाधारण विद्वान तथा शास्त्रों में पारंगत थी। किसी रूप में इसे हम पौराणिक काल की मैत्रेयी और गार्गी की ब्रह्म-जिज्ञासा की विरासत पाई हुई कहें तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

१८

अतिमुक्त मुनि की माता

श्रीमती

श्रीमती पेटालपुर-नरेश विजय की पटरानी थी। यह अनेक सद्‌गुणों से विभूषित थी। धर्म की ओर इसकी प्रवृत्ति थी। प्रजा की सेवा, दान-पुण्य, ईश्वर-पूजा आदि में पति-पत्नी का समय व्यतीत होता था। श्रीमती के एक पुत्र भी हुआ था, जिसका नाम अतिमुक्त रक्खा गया।

माता-पिता जैसे होते हैं, उनके बालक भी वैसे ही बनते हैं—यह सब जानते ही हैं। एक दिन की बात है कि गौतम स्वामी इनके यहाँ भिक्षा लेने आये। उन्हें देखकर बालक ने कहा—"मैं भी आप-जैसा ही बनूँगा। गौतम स्वामी ने उसे साधु के कर्तव्य बताये और कहा कि साधु बनना कोई हँसी-खेल नहीं, तलवार की धार के ऊपर खड़ा होना है। परन्तु इतने पर भी बालक ने यही कहा कि "मैं तो आप-जैसा ही बनूँगा।"

भिक्षा लेकर गौतम स्वामी वापस जाने लगे, तो बालक ने माता-पिता से कहा कि "मुझे दीक्षा दिला दो; मैं भी स्वामी बनूँगा।" पिता ने उसे बहुत समझाया कि हमारी भविष्य की सारी आशायें तुम्ही-

पर हैं; बड़ा होकर तुझे तो राजपाट सम्हालना है; अभी से साधु बनने की क्या बात? माता श्रीमती ने भी प्रेम-पूर्वक बहुतेरा समझाया; पर पुत्र ने कहा—"माता! तुम्हींने तो मेरे अन्दर ऊँचे संस्कार डाले हैं। आज उन विचारों को अमल में लाने का अवसर आया है, तो तुम संसार और राज-वैभव का मोह बताकर मुझे ललचाती हो! तुमने और पिताजी ने वृद्धावस्था की जो बात कही वह भी मुझे नहीं रुचती, क्योंकि कौन बुड्ढा और कौन जवान? संसार में तो सभी वस्तुयें अनित्य हैं। भला कौन किसका पुत्र है? संसार-चक्र में घूमते हुए ऐसे अनेक सम्बन्ध बनते और टूटते हैं। संसार की वस्तुओं का आश्रय लेने से मनुष्य को कभी सुख नहीं मिलता। मनुष्य के लिए सच्चा आश्रय तो भगवान के वचन ही हैं।"

पुत्र के मुँह से इस प्रकार ज्ञान की बातें सुनकर माता-पिता समझ गये कि इसके मन में सच्चे वैराग्य का उदय हुआ है, अतः प्रसन्नता-पूर्वक उन्होंने उसे दीक्षा लेने की अनुमति प्रदान की।

अपने एकलौते बेटे के इस प्रकार संन्यास ले लेने पर श्रीमती ने भी अपना जीवन धार्मिक कामों में ही व्यतीत किया। अपने राज्य के दीन-दुःखी और निराधार लोगों को आश्रय देने के लिए उसने संस्थायें स्थापित की थीं। जैन-शास्त्रों में अतिमुक्त मुनि की माता के नाम से यह बहुत प्रख्यात है।

१९

अभयकुमार की माता

सुनन्दा

सुनन्दा जैन-संसार में ख्याति-प्राप्त राजा श्रेणिक की पत्नी और अभयराज की माता थी। वेन्नातट नगर में धनपति नामक साहूकार के यहाँ इसका जन्म हुआ था। माता-पिता ने सुनन्दा को अच्छी शिक्षा दी थी और योग्य वर की तलाश में बड़ी उम्र तक उसे क्वांरी ही रहने दिया था।

इसी बीच राजगृह-नरेश का पुत्र श्रेणिक धनपति की दूकान पर आया और उन दोनों में मित्रता हो गई। फलतः श्रेणिक धनपति के घर आने-जाने लगा। तब सुनन्दा को श्रेणिक के रूप-गुण का परिचय हुआ और वह उसपर मोहित हो गई। जब अपनी माता से उसने अपने मन की यह बात कही, तो उसकी माता को इस प्रकार एक अनजान पुरुष के साथ अपनी पुत्री का विवाह की इच्छा करना अच्छा न लगा। उसने सुनन्दा को इसके लिए बुरा-भला कहा। सुनन्दा ने नम्रतापूर्वक कहा—"माँ! मैंने अपने हृदय का सच्चा भाव तुमपर प्रकट कर दिया, इसका यह अर्थ न लगाओ कि मैंने किसी प्रकार अपनेको कलंक लगा लिया है। मेरे मन में किसी प्रकार का

विकार नहीं है। श्रेणिककुमार पर मेरा वैसा ही विशुद्ध प्रेम है, जैसा किसी आर्य स्त्री को शोभा दे सकता है। श्रेणिक मेरे हृदय का स्वामी है। विवाह करूँगी, तो उसीसे करूँगी; नहीं जन्म भर कुमारी रह कर ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करूँगी।"

सुनन्दा के पिता को जब यह बात मालूम हुई तो वह बड़ा खुश हुआ। श्रेणिक के गुणों से तो वह परिचित हो ही चुका था और भिन्न-भिन्न वर्णों के बीच विवाह होने में उस समय कोई रुकावट नहीं थी। अतः इस विवाह-सम्बन्ध से वह सहमत हो गया।

श्रेणिक से जब यह बात कही गई, तो उसने सुनन्दा से मिलकर अपनी वास्तविक स्थिति उसे बतलाई। यह भी समझाया कि मुझ-सरीखे चलते-फिरते अनजान पुरुष के साथ विवाह करना जोखिम मोल लेना है। परन्तु सुनन्दा ने किसी भी जोखिम की परवा नहीं की। अपने भावी पति पर ज़रा भी अविश्वास न करते हुए उसने कहा—"आप झूठा भय बताकर मेरा विचार बदलने की आशा न करें। मैं यह निश्चय कर चुकी हूँ कि विवाह करूँगी तो आपसे ही करूँगी; नहीं संयमपूर्वक कौमार्य-व्रत धारण करूँगी। आप परदेशी हैं, इसलिए विवाहोपरान्त मुझे छोड़कर चले जायँगे, तो मैं पतिव्रत-धर्म का पालन करती हुई पीहर में रहूँगी और रात-दिन आपका नाम जपूँगी।" तब श्रेणिक ने भी अपना हृदय उसे दे दिया; और एक शुभ दिन उन दोनों का विवाह होगया।

विवाह के कुछ समय बाद सुनन्दा गर्भवती हुई। सुनन्दा की माता प्रेम-पूर्वक उसकी सब इच्छायें पूरी करने लगी, फिर भी सुनन्दा

कमज़ोर होती जाती थी। इस बात की जाँच करने पर मालूम पड़ा कि उसके मन में एक अभिलाषा उत्पन्न हुई है और उसके पूर्ण होने की आशा न होने के कारण वह दिन-दिन सूखती जारही है।

गर्भावस्था में वैसे तो हरेक स्त्री को किसी-न-किसी प्रकार की अभिलाषा होती है, परन्तु सुनन्दा की अभिलाषा तो बहुत ऊँची थी। वह हाथी पर बैठकर राजमार्ग में दान करती हुई जाना चाहती थी और चाहती थी कि उस समय राजा उसके साथ-साथ चले और फिर देवस्थानों में पूजा की जाय। अपनी इस अभिलाषा का विस्तार से वर्णन करते हुए सुनन्दा ने अपनी माता से कहा—"माँ! मेरी अभिलाषा है कि हाथी पर बैठकर बाजे-गाजे के साथ मैं जाऊँ, पंच-परमेष्ठि का मंत्र पढ़ूँ, मन-चाहा दान दूँ, स्वधर्मियों का सन्तोष करूँ, अहिंसा-व्रत पालन करूँ, स्वधर्मियों को सन्तोष दूँ, देश में अहिंसा का पालन कराऊँ और साधुओं को सात्विक भोजन कराऊँ।"

बेटी की ऐसी अभिलाषा जानकर माता खुश तो खूब हुई, पर यह बात अपने बूते से बाहर होने के कारण सुस्त पड़ गई। जमाई को जब उसने यह बात सुनाई तो वह पत्नी की उच्च अभिलाषा से प्रसन्न हुआ। उसने इसकी पूर्ति का एक उपाय सुझाया। नगर के राजा के सुलोचना नाम की एक लड़की थी। उसकी आँखें सुन्दर और विशाल होने पर भी तेज-हीन थीं। इस प्रकार आँख होते हुए भी वह बेकाम थी। श्रेणिक के पास एक ऐसा रत्न था, जिसको आँख पर लगाने से आँख की रोशनी वापस आजाती थी। श्रेणिक के कहने पर उस रत्न को लेकर सेठ धनपति राजा के पास गया और सुलो-

चना की आँख अच्छी करके उसने राजा को खुश कर दिया। राजा ने मुँह-माँगा इनाम देने को कहा, तब सेठ धनपति ने अपनी पुत्री की अभिलाषा का हाल कहकर उसे पूर्ण करने की प्रार्थना की। राजा ने यह बात मानली और सुनन्दा की अभिलाषा पूरी होगई।

इसके बाद श्रेणिक अपने पिता के राज्य में गया। सुनन्दा ने अपने पीहर में जो पुत्र प्रसव किया उसका नाम अभयकुमार रक्खा गया। माता ने उसे खूब अच्छी शिक्षा दी। कुछ समय बाद वह भी पुत्र के साथ पति के घर गई। राजा श्रेणिक ने धूमधाम से उसका स्वागत किया।

दीन-दरिद्रों की सेवा, धर्मोपदेश, ईश्वर-पूजा आदि सत्कार्यों में ही सुनन्दा ने अपना जीवन व्यतीत किया। सुनन्दा ने (महावीर स्वामी के समय में) बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की थी और उत्तरावस्था में दीक्षा लेकर मोक्ष की अधिकारिणी बन गई थी।

२०

सतीत्व का आदर्श

शीलवती

शीलवती अपने समय में सतीत्व का आदर्श मानी जाती थी और असाधारण बुद्धिमती थी।

मंगलापुरी-निवासी सेठ जिनदत्त के घर इसका जन्म हुआ था। नाम के अनुरूप ही इसमें गुण थे। पिता ने उच्च शिक्षा देकर इसकी बुद्धि को संस्कृत किया था। साथ ही धर्म और नीति के उच्च संस्कार भी इसमें डाले थे। पाकविद्या (रसोई), अतिथि-सत्कार, गृह-प्रबन्ध आदि में भी यह निपुण थी।

वयः प्राप्त होने पर जम्बुद्वीप के सेठ रत्नाकर के पुत्र अजितसेन से शीलवती का विवाह हुआ। अजितसेन भी सुन्दर और सुशिक्षित था; इसलिए यह सम्बन्ध सब तरह से ठीक ही रहा।

ससुराल में शीलवती ने अपने मधुर स्वभाव आज्ञा-पालन एवं कार्य-कुशलता से सबको खुश कर लिया। सेठ रत्नाकर और उनकी पत्नी ने, अपने घर ऐसी विनम्र बहू आई देख, अपने जीवन को सफल समझा। वे कहने लगे कि "कुल और घर के दीपकरूप उत्तम बहू प्राप्त करके मनुष्य गृहस्थाश्रम को तीनों आश्रमों का सार-रूप समझता है, यह ठीक ही है।"

एक बार आधी रात को लोमड़ी की आवाज़ सुनकर शीलवती ने समझा, दिन निकलने का समय आगया है; अतः सिर पर घड़ा रखकर वह पानी लेने चलदी। उसका ससुर सेठ रत्नाकर इस समय जाग रहा था। पुरुषों की यह आदत होती ही है कि स्त्रियों के बारे में विशेष विचार न कर एकदम उनके चरित्र पर शंका करने लगते हैं। इस समय बहू को जाते देख, उसे भी बहू के आचरण पर सन्देह हुआ।

उधर शीलवती ने बाहर निकलकर जब देखा कि अभी तो आधी रात ही है, तो वह लौट आई और घड़ा रखकर फिर सो गई। लेकिन सेठ रत्नाकर के मन में तो जो बात उठी वह जम ही गई। सवेरे उसने बहू के बारे में अपनी पत्नी के विचार पूछे। पत्नी ने विश्वास दिलाया कि बहू का सारा आचरण मर्यादापूर्ण ही है, मगर सेठ को विश्वास न हुआ। वह तो रात को अपनी आँखों से उसे बाहर जाते देख चुका था। अतः उसे प्रत्यक्ष सबूत मानकर, उसने शीलवती को व्यभिचारिणी ठहरा दिया। यही नहीं बल्कि पुत्र के मन में भी उसने यह बात जमा दी और शीलवती को त्याग देने की सलाह दी। जब पुत्र भी सहमत हो गया, तो पीहर भेजने का बहाना करके सेठ ने शीलवती को रथ में बैठाया और शहर बाहर चल दिये।

रास्ते में नदी आई तो सेठ ने जूते उतार कर नदी पार करने के लिए शीलवती से कहा, पर वह जूते पहने हुए ही उस पार गई। वहाँ से आगे चलने पर एक खेत आया। सेठ ने कहा—"इस खेत के मालिक की चाँदी है, क्योंकि इसमें उपज बहुत होगी।" पर बहू ने कहा—"हाँ, यदि कोई इसे खा न जाय, तो आपकी बात ज़रूर ठीक

होगी।" सेठ ने समझा कि बहू कुछ जानती नहीं, नादान और बातेंबनानेवाली है। और आगे जाने पर एक सुन्दर समृद्धिशाली नगर आया। ससुर ने उसकी बड़ी तारीफ़ की, पर बहू ने कहा—"यह उजाड़ होता तो अधिक अच्छा था।" पश्चात् एक योद्धा मिला, जो लड़ाई में लहू-लुहान हो रहा था। ससुर ने उसकी वीरता की सराहना की, परन्तु बहू ने कहा—"यह तो पिटकर आया है; डरपोक और पामर है।" इस प्रकार बहू के स्वभाव से सेठ चिढ़ता ही जाता था। इतने में एक वड़ का दरख़्त रास्ते में आया। सेठ उसकी छाया में बैठा, परन्तु बहू उसके कहने पर भी वहाँ से दूर ही बैठी। आगे चलने पर एक बढ़िया शहर आया, जिसमें सात दरवाज़े थे। सेठ ने उसकी प्रशंसा की, पर बहू ने उसे उजाड़ गाँव बतलाया। उसके बाद तीन-चार घरों का एक गाँव आया, उसे देखकर बहू ने कहा—"यह अच्छा आबाद गाँव है।" शीलवती के ऐसे उलटे उत्तरों से सेठ का क्रोध बढ़ता जा रहा था, इतने में शीलवती का मामा सामने से आया। उसने अपने घर ले जाकर इनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया; और रास्ते के लिए खाना भी इनके साथ रख दिया।

रास्ते में एक वृक्ष के नीचे सेठ तो सो गया और बहू खाना खाने लगी। इतने में एक कौआ बोला। शीलवती पक्षियों की भाषा से परिचित थी। कौए की आवाज़ सुनकर उसने कहा—"भाई! क्यों रोते हो? तुम्हारे मन की बात मैं जानती हूँ।" सेठ पड़ा-पड़ा ऊँघ रहा था। यह सुनकर उसे विश्वास होगया कि शीलवती पक्षियों की भाषा जानती है। कौआ फिर बोला तो शीलवती ने कहा—"पहले

एक की बात सुनकर तो मुझे पति-वियोग का दुःख सहने की नौबत आई है, अब फिर तेरा चिल्लाना सुनकर कुछ करने जाऊँ तो पिता से मिलने जा रही हूँ उसमें भी विघ्न पड़ जायगा।" यह सुनकर ससुर ने उससे यह बात कहने का कारण पूछा। तब शीलवती ने बताया, कि "कितनी ही बार ऐसी बातें भी दोष-रूप हो जाती हैं, जो सच पूछो तो गुण ही हैं। सृष्टि में प्राणियों को अनेक बार अपने सद्गुणों के लिए ही सज़ा भोगनी पड़ती है। बचपन में मैंने पशु-पक्षियों की भाषा सीखी थी, उसके कारण मुझे उनके सुख-दुःख का पता चलता है और दया से प्रेरित होकर मैं बहुत दफ़ा उनकी मदद करने को तैयार होती हूँ।"

शीलवती का यह स्पष्टीकरण सुनकर सेठ को अपनी ग़लती मालूम हो गई। उसके लिए उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उसने बहू से क्षमा माँगी। शीलवती ने नम्रता के साथ कहा—"आप मेरे बड़े और पिता के समान हैं। मुझसे क्षमा माँगकर, मुझे लज्जित न करें। आप सोरहे थे और मैं घड़ा लेकर बाहर गई थी, उस समय मैंने एक लोमड़ी की आवाज़ सुनी थी। वह कह रही थी कि एक मुरदा आया है जिसके शरीर पर लाख रुपये के गहने हैं। अतः मैं वहाँ गई और उस मुरदे के शरीर से लाख रुपये के गहने उतार कर ले आई। अब यह कौआ आपका खाना माँगता है और कहता है कि इस बट-वृक्ष के नीचे दस लाख स्वर्ण-मुद्रायें हैं।"

यह सुनकर सेठ ने अपना खाना देकर कौए की भूख बुझाई और अपनी तृष्णा-पूर्ति के लिए ज़मीन खोदना शुरू किया। ज़मीन खोदने

घर उसमें से सुवर्ण का कुम्भ (घड़ा) निकला। तब उसे शीलवती की बुद्धि का पता लगा और उसके मन में उसके लिए बड़ा आदर-भाव हो गया इसके बाद दोनों घर को लौट गये।

रास्ते में सेठ ने शीलवती से इस बात का पता लगाया कि उसने पहले सब प्रश्नों का उलटा जवाब क्यों दिया था। शीलवती ने स्पष्टी-करण करते हुए कहा—"सात दरवाज़ों वाले शहर को मैंने इसलिए उजाड़ कहा कि जहाँ खूब आबादी होने पर भी कोई अपना आदमी न हो, उसे ऊजड़ ही समझना चाहिए। इसके विपरीत ऊजड़ और बहुत थोड़ी बस्ती के गाँव में भी यदि अपने किसी आदमी का घर हो तो उसे बड़ा आबाद समझना चाहिए। उस इनी-गिनी झोंपड़ियों वाले गाँव में भी मेरे मामा ने आकर हमारा कितना स्वागत-सत्कार किया था, यह आपने देख ही लिया। बड़ की छाया में मैं इसलिए नहीं बैठी, क्योंकि दरख्त की जड़ के पास सर्पादि जानवरों के आने की संभावना रहती है। उस सैनिक को कायर और नामर्द मैंने इस-लिए कहा था, क्योंकि उसकी पीठ पर बहुत घाव थे; यदि वह सच्चा वीर होता तो पीठ पर नहीं उसकी छाती पर घाव होते। खेत के बारे में आपकी बात में थोड़ा संशोधन करके यह कहा था कि यदि यह खेत पहले से ही खा न लिया गया तो निस्सन्देह अच्छी उपजवाला है। इसका कारण यह है कि किसान इतने ग़रीब होते हैं कि खेत में बोने के लिए बीज और अपने खाने के लिए नाज साहूकार से क़र्ज़ करके लाते हैं इससे फ़सल कटकर उनके घर आने से पहले उतना क़र्ज़ उनके सिर चढ़ जाता है।"

इस प्रकार अपने सब व्यवहार का सन्तोपजनक उत्तर देकर शीलवती ने ससुर को प्रसन्न कर दिया। उसने उसे सच्ची गृह-लक्ष्मी माना और घर पहुँच कर उसकी बड़ी इज्जत करने लगा।

कुछ कालोपरान्त शीलवती के सास-ससुर का स्वर्गवास होगया। अब अजितसेन और शीलवती ही कुटुम्ब के बड़े बने। शीलवती की बुद्धि से उसके पति अजितसेन ने वहाँ के राजा के एक प्रश्न का बड़ा सन्तोपजनक उत्तर दिया, तब प्रसन्न होकर अजितसेन को राजा ने अपना मंत्री बना लिया।

इसके बाद शीलवती के सौन्दर्य और बुद्धि की प्रशंसा सुनकर राजा के मन में विकार उत्पन्न हुआ। तब अजितसेन को तो किसी काम के बहाने उसने बाहर भेज दिया और अपने अधम मित्रों को शीलवती को फुसलाने के लिए भेजा पर शीलवती बड़ी पतिव्रता और बुद्धिमान थी। अपनी चतुराई से उसने उन चारों को क़ैद करके सन्दूक़ में बन्द कर दिया और राजा अरिमर्दन को उनकी दुर्गति बतलाई। तब राजा को विश्वास हो गया कि शीलवती सचमुच प्रथम श्रेणी की शीलवती (सदाचारिणी) है। और वह उसकी बड़ी इज्जत करने लगा।

शीलवती के दो पुत्र हुए। दोनों को उसने अच्छी शिक्षा दी। अपनी उत्तरावस्था में शीलवती ने संसार-त्याग किया और जैनियों में ऐसी मान्यता है कि वह अभी भी पति-सहित पाँचवें देवलोक में निवास करती है।

२१

महासती

सुलसा

जैन ग्रन्थों में दस महासतियों के पवित्र नाम गिनाये गये हैं, उनमें सुलसा का नाम सर्वप्रथम है।

बुद्धदेव और श्री महावीर-स्वामी की चरण-रज से अनेक बार पावन हुए राजगृह नगर में सुलसा का जन्म हुआ था। राजा श्रेणिक उस समय राजगृह का अधिपति था।

नागसारथि नामक एक गुणवान् और समृद्धिशाली पुरुष के साथ सुलसा का विवाह हुआ। सुलसा पर उसका बहुत प्रेम था। सुलसा भी बड़ी पतिव्रता थी, सदा पति को प्रसन्न करने में ही लगी रहती थी। उस समय भारतवर्ष के बड़े आदमियों में एक स्त्री के मौजूद होते और भी अनेक स्त्रियों से विवाह करना एक 'फ़ैशन' बना हुआ था; मगर इस दम्पति में ऐसा दृढ़ प्रेम-सम्बन्ध था कि नागसारथि ने और विवाह हर्गिज़ न करने का निश्चय कर लिया था।

एक दिन नागसारथि कहीं बाहर जा रहा था; वहाँ देवकुमार-सरीखा एक सुन्दर बालक उसके देखने में आया। नागसारथि के कोई संतान नहीं थी, इससे उसको बड़ी मनोवेदना हुई। वह सोचने लगा कि जिस घर में अपने निर्दोष हास्य से खिलखिलाकर घर को

गुँजा देनेवाले बालक न हों वह घर नहीं, उजाड़ वन है। यह विचार उठते ही उसके मन में चिन्ता ने घर कर लिया, और इस चिन्ता से वह दिन-प्रति दिन सूखने लगा। सती सुलसा भला पति को उदास कैसे देख सकती थी ? वह समझ गई कि पति के हृदय में चिन्ता-रूपी काँटा चुभ रहा है, अतः प्रेमपूर्वक उसने कहा—"स्वामी ! विंध्याचल सरीखे पहाड़ में अकेले पड़ जानेवाले हाथी की तरह आप किस गहरे विचार में तल्लीन रहते हैं ? राज्यच्युत हुए राजकुमार की भाँति आपका कमल सरीखा मुँह श्याम क्यों पड़ता जाता है ? क्या श्रेणिक महाराज ने आपका अपमान किया है ? लोगों ने आपके विरुद्ध कोई षड्यंत्र रचा है ? आपकी चिन्ता का जो भी कोई कारण हो, आप मुझे भी तो बताइए।"

पत्नी से कोई भी बात गुप्त न रखनेवाले नागसारथि ने खुले दिल से अपनी चिन्ता का सारा हाल सुलसा से कहा। सुलसा समझदार थी। पति का शोक-निवारण करने के लिए उसने कहा—"आपको ऐसी मिथ्या चिन्ता शोभा नहीं देती। पुत्र-हीन मनुष्य नरक में ही जाय, ऐसा हमारे शास्त्रों में कहीं नहीं लिखा है। स्वर्ग-नरक तो मनुष्य को अपने कर्मों के फलस्वरूप ही मिलते हैं। चाहे जैसा गुणवान पुत्र भी माता-पिता को स्वर्ग नहीं पहुँचा सकता, यह तो केवल अपना धर्म ही कर सकता है। अनेक पुत्रों से ही धृतराष्ट्र का गोत्र कमज़ोर पड़ गया, यह सब जानते हैं। यह भी हमें मालूम है कि साठ हज़ार पुत्र होने पर भी राजा सगर दुःख में ही मरा था। अलबत्ता यह सच है कि गुणवान पुत्रों के द्वारा समझदार आदमी संसार को आगे बढ़ाते हैं।"

पत्नी की ऐसी बातों से नागसारथि को कुछ शान्ति तो मिली, किन्तु उसकी पुत्र-लालसा नहीं मिटी। उसने कहा—"प्रिये ! तू जो कहती है वह सब ठीक है, पर संसारी आदमियों के लिए तो तीन ही स्थान विश्राम-रूप हैं—(१) प्रिय पत्नी, (२) विनयी पुत्र और (३) सब प्रकार उत्तम सत्सङ्ग। पुत्र के द्वारा माता-पिता अपने सदाचार एवं सद्गुणों की वृद्धि करते हैं, और यदि उसे सुशिक्षा द्वारा पोषित किया जाय उस पुत्र के द्वारा उनकी कीर्त्ति क़ायम रहती है।"

यह सुनकर सुलसा ने कहा—"प्राणनाथ ! मेरी उम्र तो अब ज़्यादा हो गई है। मैं नहीं समझती कि अब मेरे उदर से सन्तानोत्पत्ति हो सकेगी। अतः आप अपना एक विवाह और करलें। भगवान् आपकी आशा पूर्ण करेगा।"

परन्तु नागसारथि एक पत्नीव्रत था। सन्तान के ख़ातिर वह पत्नी को शोक पहुँचाकर दुःखी नहीं करना चाहता था। अतः दृढ़ निश्चय के साथ उसने कहा—"भगवान् मुझे पुत्र देना चाहेंगे तो वह तेरे ही गर्भ से होगा, नहीं तो मैं निःसन्तान रहने में ही खुश हूँ।"

पति के ऐसे विचार सुनकर सुलसा को प्रसन्नता हुई, परन्तु उसने सोचा कि किसी-न-किसी प्रकार पति की इच्छा-पूर्ति तो होनी ही चाहिए। धर्म पर उसकी अटूट श्रद्धा थी। उसे विश्वास था कि धर्म-सेवन से कठिन-से-कठिन और असंभव से मालूम पड़नेवाले काम भी शीघ्र साध्य हो जाते हैं। अतः दृढ़ मन से वह धर्माराधना और दान-पुण्य में लग गई। यही नहीं प्रत्युत ब्रह्मचर्य, भूमि-शयन और आम्बिल तप आदि के द्वारा आत्म-संयम का भी उसने प्रयत्न किया।

उसकी धर्म-श्रद्धा इतनी बढ़ी हुई थी कि एक दिन इन्द्र ने भी उसकी प्रशंसा की। इन्द्र के मुँह से प्रशंसा सुनकर हरिणगमेषी देवता उसकी परीक्षा लेने के लिए सुलसा के घर आया। सुलसा ने साधु-वेश-धारी उस देवता का यथा योग्य स्वागत-सत्कार किया। साधु ने कहा—"मैंने सुना है कि तेरे यहाँ लक्षपाक तैल के घड़े हैं। हमारे कितने ही साधुओं की दवा के लिए हमें उसकी ज़रूरत है। अतः वह तैल मुझे दे।" सुलसा तैल का एक घड़ा ले आई, पर साधु ने उसे बखेर दिया। तब एक-एक करके जितने घड़े थे सब सुलसा ने ला दिये, पर साधु ने उन सब को फोड़ डाला। लेकिन इतने पर भी सुलसा का धीरज नष्ट न हुआ और उसने साधु पर कोई क्रोध नहीं किया। तब साधु-वेशधारी देवता सुलसा पर प्रसन्न हुआ और उसे बत्तीस गोलियाँ देकर कह गया, कि "इन गोलियों को खा, इनके सेवन से तेरे बत्तीस पुत्र होंगे।"

साधु के चले जाने पर सुलसा ने सोचा—"मुझे बत्तीस पुत्रों का क्या करना है, सपूत हो तो एक ही पुत्र बत्तीस के बराबर है। एक चन्द्रमा अन्धकार का नाश करता है, जबकि तारे बहुत से होने पर भी अन्धकार को नहीं मिटा पाते।" यह सोचकर बत्तीसों गोलियाँ उसने एक ही साथ खालीं। ब्रह्मचर्य तथा शुद्ध सात्त्विक आहार का सेवन तो वह बहुत पहले से ही करती थी। और यह सब जानते हैं कि बाँझपन दूर करने के लिए ये दोनों बातें अत्यन्त आवश्यक हैं। नियमित आहार और ब्रह्मचर्यमय एवं संयमी जीवन से शरीर की अनेक खराबियाँ दूर हो जाती हैं। फिर उसमें साधु की अनुभूत

उत्तम दवा भी मिल गई, और साथ ही भगवान का अशीर्वाद भी था। फलतः सुलसा गर्भवती हुई और बत्तीसों गोली एकसाथ खाने के कारण उसे गर्भ-पीड़ा बहुत होने लगी। आखिर हरिणगमेषी साधु को बुलाया गय। उसने कहा—"एक-एक करके खाने के बजाय बत्तीसों गोली एकसाथ खाकर तुमने भारी भूल की है। अब तो एक साथ बत्तीस पुत्र होंगे। जो होना था सो तो हो गया। अब तो मैं ऐसी कोशिश भर करता हूँ, जिससे जहाँ तक हो तुम्हें ज्यादा कष्ट न हो।"

यथासमय सुलसा ने बत्तीस पुत्रों को जन्म दिया। नागरसारथी ने इस अवसर पर समारोह किया, जिसमें खूब दान-पुण्य किया गया, और बारहवें दिन पुत्रों का नामकरण-संस्कार हुआ। इसके बाद क्रमशः उन्हें लौकिक-पारलौकिक विद्याओं का भली भाँति ज्ञान कराया गया। युवावस्था को प्राप्त होने पर बत्तीसों पुत्र पिता की भाँति राज श्रेणिक के यहाँ नौकर हुए, और सेठ-साहूकारों की पुत्रियों के साथ उनके विवाह हुए।

इसके बाद राजा श्रेणिक की राजा चेटक से लड़ाई हुई। इस युद्ध में सुलसा के बत्तीस पुत्रों को अपने अंग-रक्षक के रूप में वह अपने साथ ले गया। दुर्भाग्य से बत्तीसों पुत्र इस युद्ध में काम आये। राजा ने अपने मंत्री अभयकुमार के साथ उनके माता-पिता को जब यह खबर भेजी, तो नागरसारथि और सुलसा पर वज्रपात का सा आघात हुआ। खबर सुनते ही वे मूर्च्छित हो गये और होश आने पर हृदय विदारक विलाप करने लगे।

मंत्री अभयकुमार ज्ञानी था। उसने धर्म की बहुत सी बातें कह-

कहा कर दोनों को कुछ सान्त्वना दी और पुत्रों की सद्गति के लिए उनकी अन्त्येष्टि क्रिया पर ध्यान देने की सलाह दी।

श्री महावीर स्वामी इस समय चम्पानगरी में उपदेश कर रहे थे। राजगृह जाता हुआ अम्बड़ नाम का एक साधु वहाँ आया, तो महावीर स्वामी ने उससे कहा—"अम्बड़! तू राजगृह जा रहा है, वहाँ सती सुलसा रहती है; उससे मिलना और मेरा धर्मलाभ कहना।" इस पर से मालूम पड़ता है कि महावीरस्वामी के हृदय में सुलसा के लिए कितना आदर-भाव था।

महावीरस्वामी द्वारा की गई सुलसा की प्रशंसा पर स्वयं अम्बड़ को भी आश्चर्य हुआ, इसलिए उसकी श्रद्धा की परीक्षा करने के विचार से वह भेप बदलकर सुलसा के धर गया। सुलसा ने दासी के हाथ भिक्षा भिजवाई, यह देख अम्बड़ ने भिक्षा लेने में आपत्ति की और सुलसा के ही द्वारा अपने पैर धोये जाने का आग्रह किया परन्तु सती सुलसा ने यह बात मंजूर नहीं की। तब अम्बड़ ने ब्रह्मा का स्वरूप धारण कर शहर बाहर उपदेश देना आरम्भ किया। शहर के अनेक स्त्री-पुरुप उपदेश सुनने के लिए उसके पास जाने लगे। परन्तु श्रीमहावीरस्वामी में अनन्य भक्ति होने के कारण सुलसा कभी वहाँ नहीं गई। इस प्रकार तरह-तरह परीक्षा करने पर भी जब सुलसा की श्रद्धा भंग नहीं हुई, तो अम्बड़ खुश हो गया और अपने असली रूप में उसके पास गया। उस वक्त सुलसा ने विधिपूर्वक उनका स्वागत-सत्कार किया। अम्बड़ ने सुलसा की बहुत प्रशंसा की और महावीरस्वामी का 'धर्म-लाभ' कहा। महावीरस्वामी का नाम

सुनने पर सुलसा के हर्ष का ठिकाना न रहा और एकदम खड़ी होकर करबद्ध भगवान की स्तुति करने लगी। तदुपरान्त भोजन कराकर अम्बड़ को विदा किया और आप फिर धर्म-कार्य में लग गई।

अब सुलसा दिन में तीन बार पूजा करती, दो बार प्रति-क्रमण करती, सत्पात्र को दान देती, छट व अष्टमी आदि तिथियों को उपवास करके देह-दमन करती। उसका अनुसरण करके उसका पति नगरसारथि भी धर्म-पालन में अपना समय बिताने लगा।

अपना अन्तकाल निकट देख सुलसा ने श्रीमहावीरस्वामी से 'आराधना' ग्रहण की और उसे हृदय में रखकर वह स्वर्ग सिधारी। जैनियों की मान्यता है कि सुलसा का जीवात्मा भविष्य में तीर्थंकर बनकर जन्म लेगा और मुक्ति प्राप्त करेगा।

२२

मूलतः परोपकारिणी

कृतराज-दुहितायें

प्राचीनकाल में कृत नाम का एक राजा होगया है। उसके सात लड़कियाँ थीं। वे सब बड़ी सुन्दर और लावण्यवती थीं, परन्तु अपने पूर्व-जन्म के संस्कारों के कारण भोग-विलास तथा अन्य सांसारिक प्रलोभनों की ओर उनका मन आकर्षित नहीं हुआ था। बाल्यावस्था से ही उन्हें वैराग्य होगया था, और राजमहल छोड़कर वे स्मशान में रहने लगी थीं।

एक बार राजकुमारियों से उनके सम्बन्धियों ने राजमहल छोड़कर स्मशान में रहने का कारण पूछा। उसके जवाब में एक राजकुमारी ने कहा—"यह संसार मिथ्या है; यह देह तो और भी व्यर्थ है। प्रियजनों का मिलना आदि जो सुख माना जाता है, वह स्वप्न के समान चंचल है। इस संसार में सार-रूप सत्य वस्तु एक ही है, और वह है परोपकार। यह शरीर तो क्षणभंगुर है। अपने मानव-बन्धुओं, पशु-पक्षियों, वनस्पति इत्यादि की जितनी सेवा यह कर सके उतना ही यह सार्थक है। शरीर कितना ही सुन्दर क्यों न हो, यदि वह दूसरे किसी के काम न आवे तो निरूपयोगी है। अतः हम बहनों ने

निश्चय किया है कि जबतक जीवित रहेंगी तबतक परोपकार करेंगी और अन्त में देह का इस प्रकार परित्याग करेंगी, जो मरने पर स्मशान में मांसाहारी प्राणियों के खाने के काम आ सके।"

शरीर के रूप-लावण्य के कारण मनुष्य को प्रलोभन में फँसने के कैसे-कैसे अवसर आते हैं, यह बताने के लिए उसने एक दृष्टान्त भी दिया।

उसने बताया कि एक सुन्दर राजकुमार युवावस्था में ही घर-बार छोड़कर संन्यासी होगया। एक दिन एक साहूकार के यहाँ वह भिक्षा माँगने गया। वहाँ उसकी कमल-जैसी सुन्दर आँखें देखकर साहूकार की पत्नी के मन में विकार उत्पन्न हुआ। वह इस जवान साधु पर मोहित हो गई और कहने लगी—'महाराज! तुम तो बड़े सुन्दर हो, भला इस कोमल शरीर को संन्यास लेने की क्या ज़रूरत आ पड़ी? तुम्हारे कमल-नेत्र की दृष्टि जिस स्त्री पर पड़े, उसे सच-मुच बहुत भाग्यवान मानना चाहिए।'

साहूकार की स्त्री के मन में विकार उत्पन्न हुआ देख साधु को उसपर बड़ा तरस आया और अपनी सुन्दरता के लिए बड़ी ग्लानि उत्पन्न हुई। उसने सोचा, 'आह! इस सुन्दरता के लिए ही कुलीन स्त्री अपना सतीत्व नष्ट करने को लालायित हो रही है।' और देखते ही देखते अपनी एक आँख निकाल उस स्त्री के हाथ में रखकर कहा—'माता! जिन आँखों का तुमने इतना बखान किया, वे तो मात्र लोहू की पुतलियाँ हैं; तुम्हें पसन्द हैं तो लो; अपने पास इसे रखलो। याद रक्खो कि दूसरी आँख भी ऐसी ही है।'

अब तो साहूकार की स्त्री को बड़ा पश्चात्ताप हुआ और वह साधु से बहुत-बहुत क्षमा माँगने लगी। साधु ने कहा—"माता! तुम्हें पछताने की कोई ज़रूरत नहीं, तुमने तो मुझपर उपकार ही किया है। नेत्र-हीन होने से अब मैं तपस्या अधिक अच्छी तरह कर सकूँगा; क्योंकि सौन्दर्य नष्ट हो जाने से मेरी धर्म-साधना में विघ्न डालने कोई न आयगा।"

यह दृष्टान्त सुनाकर राजा कृत की लड़की ने कहा—"जो शरीर इतना नाशवान है, जिसकी मोहकला क्षणमात्र में मिट जाती है, उस पर माया क्या रखना? यही सोचकर हम राजमहल का सुख छोड़ इस स्मशान में रह रही हैं, और इसी में परमसुख मानती हैं।"

इन सातों बहिनों ने इस शुद्ध विचार से प्रेरित हो परोपकार में ही अपना समस्त जीवन व्यतीत किया और स्मशान में ही शरीर-त्याग किया था।

२३

'वन-लक्ष्मी'

कल्याणी

कल्याणी एक ग़रीब विधवा थी, जो प्राचीन काल में एक गाँव के बाहर छोटी-सी झोंपड़ी में रहती थी। उसके एक छोटा पुत्र था— बस, उसी पर उसका सारा आधार था। वही इस ग़रीब विधवा का एकमात्र सर्वस्व था। उसीके साथ वह इस कुटिया में रहती थी। जटिल इस बालक का नाम था। वह फूल-सरीखा सुन्दर, झरने के जल-जैसा निर्मल और आकाश के समान उदार था। बचपन से ही उसके सिर पर जटा निकल आई थी, इसीसे लाड़ में माँ उसे जटिल कहा करती थी; और फिर यही उसका नाम पड़ गया।

कल्याणी में अपने नाम के अनुरूप ही गुण भी थे। उसका कोमल हृदय कल्याण और स्नेह से ओत-प्रोत था। गृह-व्यवस्था में भी वह बहुत-कुशल थी। उसकी झोंपड़ी गाँव के एक ओर बिल्कुल एकान्त में थी, मगर कल्याणी की व्यवस्था इतनी उत्तम थी कि उसके घर में किसी वस्तु का अभाव महसूस न होता था। माँ-बेटे सुखपूर्वक उस कुटिया में काल यापन करते थे। किसीकी हिंसा न करना, उन्होंने अपना सिद्धान्त बना रक्खा था। फलतः जंगल के अनेक पशु-पक्षी झोंपड़ी के आगे क्रीड़ा किया करते और कल्याणी उन्हें नाज डालती

थी। कल्याणी ईश्वर-भक्त भी थी। सदा भगवान का नाम सुनाई देता रहे, इसके लिए उसने कई तोता-मैना भी पाल रक्खे थे। घर का काम-काज करते हुए उनके मुँह से भगवान का मधुर नाम सुनने में कल्याणी को बड़ा आनन्द आता था।

कल्याणी की झोंपड़ी रास्ते के किनारे पर ही थी, इसलिए एक-दो मेहमान भी रोज़ उसके घर आ पहुंचते थे। कल्याणी उनका सत्कार करती। अतिथि लोग उसके स्वागत-सत्कार से इतने प्रसन्न थे कि उन्होंने उसका नाम ही 'वन-लक्ष्मी' रख दिया था। आसपास के गाँवों में कल्याणी 'वन-लक्ष्मी' के नाम से ही प्रसिद्ध थी।

एक दिन एक वृद्ध ब्राह्मण वहाँ आया और बालक जटिल को खेलते देखकर पूछने लगा—"बेटा! 'वन-लक्ष्मी' का आश्रम कहाँ है?"

जटिल बड़े आदर के साथ उसे अपनी माँ के पास ले गया। कल्याणी ने उसके बैठने को कुशासन दिया और उसके बैठने पर पुत्र-सहित भक्तिपूर्वक उसे प्रणाम किया। वृद्ध ने आशीर्वाद देकर कहा—"बेटा वन-लक्ष्मी! चारों ओर तुम्हारे अतिथि-सत्कार की प्रशंसा सुनते हुए मैं आया हूँ। आज जब इस रास्ते जा रहा था, तो विचार आया कि चलो वन-लक्ष्मी का आश्रम भी देखता आऊँ। इसीलिए आज यहाँ आया हूँ।"

वनलक्ष्मी ने आग्रहपूर्वक कहा—"महाराज! हमारे बड़े भाग्य हैं कि आपने यहाँ पधार कर इस कुटिया को पवित्र किया। अब आज तो कृपाकर आप यहीं विश्राम कीजिए।"

वृद्ध ने यह बात स्वीकार करली। जटिल को चुपचाप पास खड़ा

देखकर कल्याणी से उसने पूछा—"वनलक्ष्मी ! यह तुम्हारा पुत्र है ?" कल्याणी ने कहा—'हाँ महाराज ! यह आपका ही प्रसाद है।"

इस प्रकार बातचीत के बाद वृद्ध स्नान करने चला गया। पीछे से कल्याणी ने कुटिया के पूजा-स्थान में ब्राह्मण के लिए पूजाका सामान तैयार किया। गंगाजल, गन्ध, पुष्प, तुलसी, धूपदीप, दूब आदि सब सामान थाली में सजा कर रख दिया।

स्नानोपरान्त वृद्ध पूजा के आसन पर बैठा। इष्टदेव के स्मरण और पूजा करने के लिए उसे जिस-जिस वस्तु की आवश्यकता थी, वे सब कल्याणी ने ऐसी सरसता से यथास्थान रक्खी थीं कि वृद्ध को बड़ा सन्तोष हुआ। उसने माता और पुत्र को बहुत-बहुत आशीर्वाद दिया और उन्हें 'अपराजिता' स्तोत्र का पाठ सुनाया। स्तोत्र का पाठ करते समय ब्राह्मण के नेत्रों से जल-धारा बह रही थी। कल्याणी का हृदय उसकी भक्ति देखकर खिल उठा।

पूजा समाप्त होने पर वृद्ध ने 'अपराजिता' अर्थात् रक्षा-कवच (तावीज़) बालक जटिल के गले में बाँध दिया; और आशीर्वाद दिया, कि 'यह बालक जहाँ जायगा वहीं विजय प्राप्त करेगा।'

बातचीत में ब्राह्मण ने जटिल की पढ़ाई के बारे में भी पूछा। जब उसे यह ज्ञात हुआ कि व्यवस्थित रूप में उसकी पढ़ाई का प्रारम्भ नहीं हुआ है, तो उसने कहा—"सामने के गाँव में विश्वरूप मिश्र की शाला है, वहाँ बालक को भर्ती करा दो। वहाँ पंडितजी इसे व्याकरण, अलंकार और काव्य की शिक्षा देंगे।"

कल्याणी ने कहा—"जटिल तो अभी बिलकुल बच्चा है, जंगल में होकर गुरुजी के यहाँ कैसे जा-आ सकेगा?"

ब्राह्मण ने कहा—"मैंने इसके गले में जो तावीज़ बाँधा है, वही इसकी रक्षा करेगा। साँप, शेर, चोर, डाकू कोई तुम्हारे बालक का बाल भी बाँका न कर सकेंगे। तुम किसी बात का डर मत करो।"

"जो आज्ञा" कहकर कल्याणी ने ब्राह्मण की चरण-रज माथे चढ़ाई और ब्राह्मण आशीर्वाद देकर विदा हुआ।

दूसरे दिन सवेरे ही कल्याणी जंगल के उसपार जाकर जटिल को गुरुजी के सुपुर्द कर आई। ब्राह्मण ने गुरुजी से कह दिया था, इसलिए उन्होंने बड़ी प्रसन्नता के साथ उसे पढ़ाने का भार अपने ऊपर ले लिया।

बालक की शिक्षा का सुन्दर प्रबन्ध देखकर कल्याणी एक बड़ी चिन्ता से मुक्त हो गई।

जटिल रोज सवेरे जल्दी उठता, सबक़ याद करके स्नान-भोजन से निवृत्त हो, उसपार गुरुजी के घर पढ़ने जाता, और सारे दिन वहाँ रहकर शाम को अपनी माँ के पास लौट आता।

एक दिन जटिल की शाला के बालक बातों ही बातों में एक-दूसरे से पूछने लगे, कि 'तुम्हारे घर कौन-कौन है?' किसी ने कहा 'मेरे माँ है, बाप है'; और किसीने कहा 'मेरे इतने बहन-भाई हैं' आदि। इस प्रकार पूछते-पूछते जब जटिल की बारी आई, तो उसने कहा—"मेरे तो अकेली मेरी माँ ही है, और कोई नहीं है।" कामन्दक विद्यार्थी को यह बात कुछ अद्‌भुत मालूम पड़ी। उसने सोचा—"इसके घर में और कोई पुरुष नहीं, तो बाज़ार से खाने-पीने का सामान

आदि कौन लाता होगा ? ज़रूर इसके और भी कोई होंगे, पर इसे मालूम न होगा।" पर जटिल ने कहा—"भाई ! मुझे तो पता नहीं। मैंने तो आजतक और किसीको अपने घर में नहीं देखा; फिर भी आज माँ से पूछकर कल तुम्हें ठीक-ठीक बताऊँगा।"

जटिल घर के लिए रवाना हुआ, तो रास्ते में उसे बहुत डर लगने लगा। इतने में एक वृद्ध पुरुष उसे मिला, उसे जटिल पर दया आई। वह जटिल को जंगल के इस पार तक पहुँचा गया।

जटिल माँ के पास पहुँचा, इतने में सूरज छिप गया था। कल्याणी सायंकाल की आर्त्ती कर रही थी। जटिल ने भी सामने बैठकर भगवान की स्तुति की। यह उसका रोज का नियम था। अस्तु।

घर के सारे काम-काज से निबटने पर जटिल ने पूछा—"माँ ! अपने कोई और भी है ?"

बालक के इस निर्दोष प्रश्न का कारण माता न समझ सकी, तब जटिल ने कामन्दक के साथ हुई अपनी सारी बातचीत उसे सुनाई।

इसपर कल्याणी ने कहा—"बेटा ! अपने और कोई नहीं, केवल एक दीनबन्धु हैं।"

जटिल ने पूछा—"माँ ! दीनबन्धु मेरे क्या लगते हैं ?"

कल्याणी—"बेटा ! वह तेरे बड़े भाई होते हैं।"

जटिल—"वह कहाँ रहते हैं माँ ?"

"बेटा ! वह इस पृथिवी में सब जगह विराजमान हैं। आकाश में भी रहते हैं और पाताल में भी रहते हैं। फल, फूल, घर, जंगल, सर्वत्र उनका निवास है। इस दुनिया में ऐसी कोई जगह नहीं, जहाँ वह न रहते हों।"

जटिल—"तब तो वह हमारी झोंपड़ी में भी रहते होंगे न ?"

कल्याणी—"हाँ, भइया, वह यहाँ भी हैं।"

जटिल—"तब हम उन्हें देख क्यों नहीं पाते ?"

कल्याणी—"उन्हें देखने की इच्छा करने से उनसे नहीं मिला जा सकता। उन्हें देखने के लिए तो प्रयत्न करना पड़ता है। भला इन चमड़े की आँखों से उन्हें देखा जा सकता है? उन्हें देखने के लिए तो दिव्य चक्षु चाहिएँ।"

जटिल—"माँ! तुमने उन्हें देखा ?"

कल्याणी—"न बेटा, मैंने उन्हें नहीं देखा। मैं उन्हें पुकारती तो बहुत हूँ, पर वह दर्शन ही नहीं देते; फिर भी मैं यह जान सकती हूँ कि मेरी पुकार सुनकर वह आते अवश्य हैं। सुख-दुःख में वह मेरा साथ देते हैं। दुःख से तंग आकर जब मैं घबरा उठती हूँ तब वही मुझे ढाढस बंधाते हैं।"

जटिल—"माँ! तुम्हारी ये सब बड़ी-बड़ी बातें मेरी समझ में नहीं आतीं। तुम्हें तो एक बार मुझे मेरे बड़े भाई दीनबन्धु को बताना ही पड़ेगा। तभी मैं तुम्हारी बात सच मानूँगा।"

कल्याणी—"बेटा! तू उन्हें बुलाना; बुलाने से ही वह आवेंगे।"

जटिल—"अच्छी बात है। मैं उन्हें बुलाऊँगा, चिल्ला-चिल्लाकर पुकारूँगा; फिर ?"

कल्याणी—"चाहे जिस तरह बुलाने से वह नहीं आयँगे; जैसी चाहिए वैसी सच्ची आवाज देगा, तभी वह सुनेंगे।'

निर्दोष बालक ने पूछा—"सच्ची आवाज़ कैसी होती है ?"

तब कल्याणी ने सरल ढंग से उसे ईश्वर की भक्ति और उपासना का तरीका बतलाया; परन्तु इतना छोटा बालक भला भक्ति में क्या समझे? अतः उसने कहा—"माँ! तुम्हारी ये सारी बातें मेरी समझ में कुछ भी नहीं आईं। मैं तो बड़े भाई दीनबन्धु को बुलाऊँगा जब वह मिल जायँगे तो तुम्हारे पास उन्हें पकड़ लाऊँगा, और उनसे कहूंगा कि तुम कैसे खराब बालक हो जो माँ के बुलाने पर भी नहीं आते।"

कल्याणी ने कहा—"बेटा! ऐसा मत कहो। वह तो सत्, पवित्र और मंगलमय हैं। किसी भी प्रकार की कोई इच्छा किये बगैर एकाग्र चित्त से यदि तू उन्हें बुलायगा तो वह सुनेंगे और तुझे दर्शन देंगे।"

माँ की बात सुनते ही जटिल को रास्ते में मिले हुए वृद्ध का स्मरण हो आया और माँ को विस्तार से सारी बात सुनाकर उसने कहा—"माँ! मैं इस पार आ गया उसके बाद वह बुड्ढा दीखा ही नहीं; पता नहीं कहाँ चला गया!"

यह वृत्तान्त सुनकर कल्याणी को भगवान की दया का खयाल आया और वह रोने लगी। वह सोचने लगी—"भगवान क्या बालक की सच्ची पुकार सुनेंगे? इसी तरह तो एक बार ध्रुव ने भगवान को पुकारा था, और तब उन्होंने उस निर्दोष बालक को दर्शन दिये थे। संभव है कि मेरे जटिल की रक्षा के लिए भी वही आये हों। मन में यह विचार उठते ही उसने भक्तिपूर्वक भगवान को प्रणाम किया और जटिल से कहा—बेटा! अब जब कभी कोई संकट उपस्थित हो, तो अपने उन्हीं 'दीन-बन्धु' भाई को पुकारना। वह संकट से तुझे बचायेंगे।"

बातों ही बातों में इस प्रकार बहुत रात बीत गई, तब भगवान का मधुर नाम जपती-जपती कल्याणी जटिल को गोद में लेकर सो गई।

दूसरे दिन से उस जंगल में होकर जाते समय जटिल को किसी-न-किसी का साथ मिल जाता। उसके साथ बातें करते-करते जटिल का जंगल का भयंकर मार्ग कट जाता। यह अचरज की बात थी कि जंगल के पार होते ही जटिल का वह साथी गायब हो जाता, जटिल को फिर उसके दर्शन न होते थे।

जटिल इस प्रकार निर्भयता के साथ शाला जाने-आने लगा। गुरु के उपदेश से उसके ज्ञान में बहुत वृद्धि हुई। रास्ते में मिलनेवाले साथियों से अनुभव की बातें सुनकर उसकी बुद्धि बहुत तीव्र होगई। गुरुजी की शाला में जितने बालक पढ़ते थे उनमें जटिल का नम्बर अव्वल था। सब विद्यार्थी उसे बहुत चाहते थे और गुरुजी भी पढ़ने में उसका मन लगा हुआ देख कर बड़े प्रसन्न होते थे।

एक दिन शाला में जटिल ने सुना कि तीन दिन बाद गुरुजी के पिता का श्राद्ध है; उस दिन हरेक विद्यार्थी को एक-एक चीज़ अपने घर से लानी होगी। किसी ने आटा तो किसी ने दाल, किसी ने घी, किसी ने शकर, इस प्रकार सबने अपना-अपना ज़िम्मा ले लिया। रह गया अकेला बेचारा जटिल! कामन्दक नाम के एक मसखरे बालक ने कहा—"अच्छा, तुम दही ले आना, जटिल!"

गुरुजी को यह सुनकर जटिल पर दया आ गई। उन्होंने कहा—"जटिल बेचारा अकेली विधवा का पुत्र है, वह भला दही कहाँ से लावेगा?"

कामन्दक ने कहा—"नहीं गुरुजी, ऐसी बात नहीं। यह एक दिन मुझसे कहता था कि इसके दीनबन्धु नाम का एक बड़ा भाई है।"

गुरुजी ने जटिल से कहा—"अरे! इतने दिनों तक तूने मुझसे तो अपने बड़े भाई की बात ही नहीं कही?"

जटिल ने कहा—"गुरुजी! बात यह है कि दीनबन्धु भाई को मैंने देखा एक दिन भी नहीं है।"

गुरु०—"तब वह कहाँ रहता है?"

जटिल—"मुझे मालूम नहीं; पर माँ ने कहा है कि वह आकाश, पाताल, जल, थल, पृथिवी में सर्वत्र हैं।"

जटिल की बात सुनकर गुरुजी समझ गये कि उसके दीनबन्धु भाई कौन हैं। उन्होंने जटिल से पूछा—"तुम्हारी माँ ने किसी दिन उनको देखा है?"

इसके उत्तर में जटिल ने माता के साथ हुई बातचीत, रोज़ जंगल में से आते-जाते वह किस प्रकार दीनबन्धु को पुकारता है और किस प्रकार रोज़ जंगल में उसे पहुंचाने के लिए कोई साथी आता है आदि सब बातें विस्तार के साथ गुरुजी को सुनाईं। यह सब सुनकर उनको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने कहा—"जटिल! आज घर जाते समय तू अपने बड़े भाई दीनबन्धु को बुलाना और कहना कि आज मैं तुम से बटोही के वेश में नहीं मिलना चाहता, आज तुम मुझे अपना सच्चा स्वरूप बताओ। फिर वह तुझे किस रूप में दर्शन देते हैं, यह कल मुझे बताना। फिर अपने उन बड़े भाई से तू यह भी पूछना, कि गुरुजी के पिताजी के श्राद्ध में दही ला देने का ज़िम्मा तुम लोगे या नहीं?"

'जो आज्ञा' कहकर जटिल ने गुरुजी के पाँव छुए, और आज्ञा लेकर वह घर को चल दिया।

रास्ते में भयानक जंगल में से गुज़रते हुए उसके पैर कांपने लगे। रोज़ की तरह आज भी उसने दीनबन्धु को पुकारा। थोड़ी देर में क्या देखता है कि उसके सामने एक साँवले रंग का बालक पैरों में झँझरी पहने, मस्तक पर मोर पंख धारण किये, हाथ में बाँसुरी लेकर खड़ा हुआ मुस्करा रहा है। इस सुन्दर बालक को देखकर जटिल अवाक् रह गया और उसे प्रणाम करके पूछने लगा—"दीनबन्धु भाई ! तुम आ गये ? इतने दिन से मैं तुम्हें पुकार रहा था, पर तुम तो दिखाई ही नहीं देते थे !"

दीनबन्धु ने कहा—"भाई ! जब-जब तूने मुझे पुकारा, तब-तब मैं तेरे पास आकर खड़ा हुआ हूँ।"

जटिल ने कहा—"वाह ! मैंने तो तुम्हें कभी देखा ही नहीं !"

यह कहकर जटिल एक-टक दीनबन्धु के मधुर स्वरूप की ओर देखने लगा। उसके मुंह से एक भी शब्द नहीं निकला और आँख की पलकें भी ज्यों-की-त्यों स्थिर रहीं। तब जटिल की भक्ति से प्रसन्न होकर दीनबन्धु ने कहा—"भाई ! आज तू गुरुजी से उपदेश लेकर आया है। उपदेश बिना किसीको ज्ञान नहीं होता।"

इसके बाद दीनबन्धु जटिल को जंगल के बाहर पहुँचा आने के लिए उसके साथ गया। रास्ते में जटिल ने गुरुजी के पिता के श्राद्ध की बात कही और पूछा—"भाई सा० ! तुम उस दिन दही भेजोगे या नहीं ?"

दीनबन्धु ने कहा—"अच्छा ! अपने गुरुजी से कह देना कि दीनबन्धु उस दिन मेरे साथ दही भेज देगा।"

शाम को घर आने पर जटिल ने माँ को सब हाल बताया और कहा कि गुरुजी के पिताजी के श्राद्ध के सम्बन्ध में बालकों ने किस प्रकार आपस में काम का बटवारा किया था, उसके सिर किस प्रकार दही का ज़िम्मा आया, और किस प्रकार दीनबन्धु भाई ने दर्शन देकर दही का ज़िम्मा अपने ऊपर लिया। यह सब सुनकर कल्याणी को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह कहने लगी—"जटिल ! तू क्या कहता है ? क्या सचमुच तूने दीनबन्धु को देखा है ? ठीक-ठीक बता, उनका कैसा रूप था ?"

इस पर जटिल ने दीनबन्धु के रूप का हूबहू वर्णन करके बताया। पर कल्याणी की समझ में कुछ न आया; क्योंकि जटिल ने जिस रूप का दर्शन किया वह तो भगवान के रूप का वर्णन था। 'तो क्या इसको भगवान के दर्शन हो गये ?' उसे विश्वास न हुआ और वह सोचने लगी, कि बहुत संभवतः कोई दयालु आदमी इसे मिला होगा और जटिल उसीकी बात करता होगा। इसके बाद भगवान की असीम दया का स्मरण करके दोनों सो गये।

दूसरे दिन जटिल शाला गया तो देखा कि सब विद्यार्थियों ने अपने-अपने ज़िम्मे की चीज़ लाकर ढेर लगा रक्खा है। गुरुजी ने उन चीज़ों को भण्डार में रख आने का आदेश किया। जटिल ने गुरुजी को प्रणाम किया, तो उन्होंने पूछा—"जटिल ! तेरे दीनबन्धु मिले थे क्या ? उन्होंने क्या कहा ?"

जटिल ने कहा—"हाँ, मिले थे; और समय पर वह मेरे साथ दही भेज देंगे।"

दही की व्यवस्था हो गई, यह जानकर गुरुजी निश्चिन्त हुए। फिर उन्होंने जटिल से पूछा—"जटिल ! तेरे दीनबन्धु भाई कैसे थे?"

जटिल ने जब उनके स्वरूप का वर्णन किया तो गुरुजी को बड़ा आश्चर्य हुआ। फिर वह जटिल के मुँह से दीनबन्धु के स्वरूप का वर्णन सुनने लगे। आख़िर उन्हें विश्वास होगया कि जटिल के दीन-बन्धु भाई और कोई नहीं, स्वयं भगवान हैं; वही दीन मनुष्यों के बन्धु-रूप में जटिल और इसकी माता की रक्षा करते हैं।

आज गुरुजी के पितृ-श्राद्ध का दिन है। अनेकब्राह्मण भोजन के लिए निमंत्रित होकर आये हैं। परन्तु जटिल अभीतक दही लेकर नहीं आया। बालक उसका मज़ाक उड़ाने लगे, गुरुजी भी चिड़-चिड़ाये, और ब्राह्मण भी अधीर हो उठे। सारा भोजन तैयार था, बस दही की ही देर थी।

आख़िर ब्राह्मणों की अधीरता देखकर गुरुजी ने भोजन परोसना आरम्भ किया। उन्हें आशा थी कि परोसते-परोसते जटिल आ पहुँचेगा; और यही हुआ भी। ऐन वक्त पर जटिल दही लेकर आ पहुँचा। दही एक छोटी हँडिया में था। 'इतने से दही से क्या होगा?' यह सोचकर गुरुजी जटिल पर बड़े नाराज़ हुए; उन्होंने जटिल का लाया हुआ दही उठाकर फेंक दिया।

जटिल बेचारा रोने लगा। ब्राह्मणों को यह देखकर दया आई। उन्होंने कहा—'इस बालक को मत रुलाओ; उसकी हँडिया में जो

दही बचा हो उसमें से थोड़ा-थोड़ा हमको दो, उसीसे हमें सन्तोष हो जायगा।' इसपर गुरुजी ने जो हँडिया खोली तो देखा कि वह दही से ऊपर तक भरी हुई है। यह देख सबको बड़ा आश्चर्य हुआ।

दही ब्राह्मणों को परोसा गया। इस दही का स्वाद अपूर्व था। ऐसा दही ब्राह्मणों ने पहले कभी न खाया था। उन्होंने बार-बार दही माँगा, पर हँडिया खाली हुई ही नहीं।

भोजनोपरान्त ब्राह्मणों ने जटिल का हाल पूछा। उसके दीनबन्धु भाई की बात सुनकर सबको बड़ा अचरज हुआ। जटिल को आशीर्वाद देकर वे अपने-अपने घर गये।

विद्यार्थियों ने भी आज जटिल के साथ बैठकर भोजन किया, और जटिल का लाया हुआ दही तो उन्होंने बड़े स्वाद से खाया।

शाम होने लगी, तो विद्यार्थी अपने-अपने घर गये। गुरुजी ने जटिल से कहा—"चल जटिल! आज तेरी माँ के पास चलकर उन्हें प्रणाम कर आऊँ।"

गुरुजी ने अभी भोजन नहीं किया था। आज उनकी भूख-प्यास मर गई थी। उनके मन में तो आज स्वर्गीय भाव रम रहे थे, उनका हृदय भक्ति की मस्ती में झूम रहा था। जटिल को अपने साथ ले जाते हुए वह कहने लगे—"जटिल! आज तुझे अपने बड़े भाई दीनबन्धु को मुझे भी बताना होगा। मैंने आज पानी तक नहीं पिया है। तेरे दीनबन्धु मुझे खिलायेंगे तभी मैं खाऊँगा, नहीं तो अपने प्राण त्याग दूँगा।"

जटिल ने कहा—"गुरुजी! यह कौन बड़ी बात है। वह तो इस जंगल में ही आपको मिल जायेंगे।"

जंगल में रोज़ की जगह पहुँचने पर जटिल ने दीनबन्धु को आवाज़ दी, पर उत्तर में किसी ने कहा—"आज तो तू अकेला नहीं है, फिर डर क्या है? आज मुझे क्यों बुलाता है?" जटिल ने कहा—"बड़े भाई आज मैंने गुरुजी को वचन दिया है कि मैं उन्हें तुम्हारे दर्शन कराऊँगा, अतः तुम्हें उनको दर्शन देने पड़ेंगे।"

देखते ही देखते जटिल के सामने एक दिव्य ज्योति प्रकट हुई। उस ज्योति के प्रकाश से सायंकाल का अंधेरा नष्ट हो गया और जंगल जगमगा उठा। ज्योति में एक छायामूर्त्ति थी। जटिल ने कहा—"दीनबन्धु भैया! आज तुम्हारा यह कैसा रूप? रोज़ तो तुम मुझे ऐसे रूप में नहीं दिखाई पड़ते थे।"

छाया-मूर्त्ति ने जवाब दिया—"भाई! आज मेरा सच्चा स्वरूप है। लेकिन भक्त जिस भाव से मेरा ध्यान करता है उसी भाव में मैं उससे मिलता हूँ।"

जटिल ने गुरुजी से दीनबन्धु के दर्शन करने को कहा। पर गुरुजी को केवल प्रकाश ही दिखाई पड़ता था। जटिल ने उन्हें बताया कि इस प्रकाश के अन्दर एक दिव्यमूर्त्ति विराजमान है, परन्तु उन्हें तो प्रकाश के सिवा कुछ भी दिखाई न पड़ा। जटिल ने दीनबन्धु से प्रार्थना की, तो उन्होंने बताया, कि "तेरे गुरु संसार के माया जाल में फँसे हुए हैं, फिर आज उन्होंने तुझपर अविश्वास भी किया था, इसलिए वह मुझे नहीं देख सकते।"

लेकिन जटिल ने आग्रह किया कि वे गुरुजी को दर्शन दें।

गुरुजी जटिल को गोद में लेकर बैठे। भक्त जटिल पर दही के

बारे में अविश्वास करने और नाराज़ होने के लिए उन्हें पश्चात्ताप हुआ। शान्त और निर्मल चित्त से उन्होंने दीनबन्धु के दर्शनों की इच्छा की। तब थोड़ी देर में उस दिव्य ज्योति के अन्दर गुरुजी को भी 'दीनबन्धु' के दर्शन हुए।

गुरुजी ने इस दर्शन से अपना जीवन सफल समझा और कहा—"दीनबन्धु! जब आपने इतनी कृपा की है तो मुझे एक सुखद दृश्य और बताओ। तुम दोनों भाई आज मेरे साथ चलो और अपनी माता को बताओ। आज मैं कल्याणीदेवी के दर्शन करके अपने जीवन को कृत-कृत्य करूँगा।"

दीनबन्धु ने कहा—"अच्छा! तुम जटिल को गोद में लेकर चलो; मैं भी थोड़ी देर में आता हूँ।"

गुरुजी जटिल को लेकर कल्याणी की कुटिया पर गये।

इधर कल्याणी ने जब देखा कि रात हो गई, जंगल में अन्धेरा छा गया, पर अभीतक जटिल लौटकर नहीं आया, तो वह बड़ी चिन्ता में पड़ गई। तरह-तरह की शंकायें उसके मन में उठने लगीं। इतने में गुरुजी की गोद में जटिल आता हुआ दिखाई दिया। अब तो उसके स्नेहार्द्र हृदय में एक और शंका उठ खड़ी हुई, कि 'आज जटिल अपने पैरों चल कर क्यों नहीं आ रहा है; कहीं आज वह बीमार तो नहीं हो गया है?'

गुरुजी ने आकर जटिल को गोदी से नीचे उतारा और कल्याणी-देवी को चरण छूकर प्रणाम किया।

जटिल ने कहा—"माँ! आज मेरे दीनबन्धु भाई तुमसे मिलने के लिए आनेवाले हैं।"

"कब ? कब आयेंगे, भइया, वह ?" उत्सुकता से कल्याणी ने पूछा।

"यह आया माँ !" कहकर, दीनबन्धु प्रकट होकर कल्याणी के चरणों की रज लेने लगे।

कल्याणी ने दीनबन्धु का अलौकिक रूप देखा। उनके शरीर में लाखों सूर्य की ज्योति थी, उस तेज से कल्याणी की आँखें चकाचौंध होने लगीं। उसने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—"भक्तवत्सल भगवान् ! अपना यह तेज बन्द करो। मुझपर दया कर पुत्र की तरह मेरे पास आये हो, तो जिस वेश में यशोदा के पास गये थे उसी वेश में एक बार मेरी गोद में बैठो।"

तब दीनबन्धु गोपालनन्दन के वेश में कल्याणी की गोद में बैठे। गुरुजी ने जटिल को भी उनके साथ माता की गोद में बैठाकर एकाग्रता से भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और कहा—"माता ! यशोदा के रूप में आज कृष्ण-बलराम को तुमने अपनी गोद में बैठाया है। इसी स्वरूप में आज मेरा प्रणाम स्वीकार करो।"

× × × ×

जटिल क्रमशः सब शास्त्रों में पारंगत हुआ और कल्याणी जैसी माता के उपदेश और सलाह से संसार में अपना यथायोग्य कर्त्तव्य-पालन करता हुआ उसने अपना जीवन यापन किया।

भारत के स्त्री-रत्न

[तीसरा भाग]

बुद्ध-काल

बुद्ध-धर्म का संक्षिप्त परिचय

बुद्ध-धर्म की स्थापना

बुद्ध-धर्म की स्थापना, आज से ढाई हजार से भी अधिक वर्ष हुए तब, महापुरुष गौतम बुद्ध ने, हमारी पुण्यभूमि भारतवर्ष में की थी। उनकी मृत्यु के बाद भी अनेक वर्षों तक यही धर्म हमारे देश का मुख्य धर्म रहा। भारत से बाहर चीन, जापान आदि देशों में तो आज भी लोग आमतौर पर इसी धर्म को मानते हैं और बुद्धदेव को जन्म देनेवाली इस पवित्र भूमि (भारतवर्ष) की यात्रा करने के लिए उन देशों से अनेक यात्री बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ यहां आते हैं।

जैनियों के तीर्थंकर महावीर स्वामी के ही समय में, परन्तु उनके कुछ पश्चात् भगवान बुद्ध का जन्म हुआ था। इस समय आर्यों का वैदिक धर्म विकार को प्राप्त हो चुका था। वेद और उपनिषद के उत्तम एवं गहन सिद्धान्तों को समझने और तदनुसार आचरण करनेवाले उस समय थोड़े ही रह गये थे, बाकी सब तो लकीर के फकीर ही बने हुए थे। कर्मकाण्ड, वितण्डावाद और जीव-हिंसा आदि निन्द्य कर्म करनेवाले अनेक हो गये थे। ऐसे समय भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ, जिन्होंने लोगों को उस मोह-निद्रा से जागृत किया। बुद्ध का अर्थ ही यह है कि जो मोह-निद्रा से सचेत हो गया हो, जिसे सच्चा बोध या ज्ञान प्राप्त हुआ हो।

बुद्ध का उपदेश

भगवान् बुद्ध का उपदेश यह था कि वैदिक यज्ञ-याग करने मात्र से धर्म नहीं होता, सच्चा धर्म तो इस बात में है कि सद्विचार रक्खे जायँ

और पवित्र जीवन-यापन किया जाय। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सब इस धर्म के समान अधिकारी हैं। यज्ञ में पशु-बलि अथवा अन्य किसी प्रकार जीव-हिंसा करना महापाप है। ब्राह्मण-शूद्र का भेदभाव भुलाकर सब तरह की जीवहिंसा का परित्याग करके, सबको भोग-विलासहीन पवित्र जीवन व्यतीत करते हुए जगत् का कल्याण करना चाहिए। इस प्रकार जीवन-यापन करने से धीरे-धीरे मनुष्य की आत्मा सब तरह के मोह एवं पापवासना से मुक्त होकर निर्वाण (मुक्ति) प्राप्त करेगी।

बौद्ध धर्म का महामन्त्र

बौद्ध धर्म के महामंत्र में तीन बातें हैं :—

बुद्धं शरणं गच्छामि (मैं बुद्ध का आश्रय लेता हूँ)
धर्मं शरणं गच्छामि (मैं धर्म का आश्रय लेता हूँ)
संघं शरणं गच्छामि (मैं संघ का आश्रय लेता हूँ)

मुख्य उपदेश

बुद्ध का मुख्य उपदेश यह था कि इस संसार में प्रत्येक वस्तु क्षण-भंगुर और दुःख का कारण-रूप है।

सांसारिक दुःख का इलाज

संसार के इस दुःख का इलाज क्या? इलाज से पहले हमें यह मालूम करना चाहिए कि रोग का कारण क्या है? इसपर ध्यान दें तो हमें मालूम होगा कि तृष्णा (सुख-भोग की अहर्निश लालसा) से दुःख की उत्पत्ति होती है। अतएव आत्मवाद का परित्याग कर अनात्म-वाद ग्रहण करना चाहिए—अर्थात्, अहंभाव छोड़ देना चाहिए। "तृष्णा और तृष्णा से उत्पन्न होनेवाले 'उपादान' (विषयग्रहण) का नाश हो जाय तो फिर पुनर्जन्म और उससे संयुक्त जरा (वृद्धावस्था), मरण

आदि के दुःख भी मिट जायें। यह दुःख-रहित स्थिति ही निर्वाण है। 'निर्वाण' का अर्थ है मिट जाना; मनुष्य के हृदय में अहंभाव तथा राग-द्वेषादि की जो-जो वृत्तियां सुलगती रहती हैं उनका बुझ जाना।"

(धर्मवर्णन)

निर्वाण-प्राप्ति के मार्ग

इस निर्वाण या मुक्ति को प्राप्त करने के लिए बुद्धदेव ने जो उपाय बतलाये हैं उन्हें **'मध्यम प्रतिपदा'** अथवा **'आर्य अष्टांग मार्ग'** कहते हैं। ये आठ मार्ग निम्न प्रकार हैं :—

(१) **सम्यग् दृष्टि** (अच्छी तरह समझना; ज्ञान)।

(२) **सम्यक् संकल्प** (कोई काम करने का उचित संकल्प)।

(३) **सम्यक् वाक** (वाणी का अच्छापन; अर्थात् असत्य न बोलना, किसी की चुगली या निन्दा न करना, अपशब्द न कहना, मिथ्या बकवास न करना)।

(४) **सम्यक् कर्म** (अच्छे काम, शील और दान)।

(५) **सम्यक् आजीव** (उचित आजीविका, अर्थात् उचित धन्धा करके जीवन-निर्वाह करना)।

(६) **सम्यग् व्यायाम** (उचित प्रयत्न)।

(७) **सम्यक् स्मृति** (ठीक स्मृति और विचार)।

(८) **सम्यक् समाधि** (समाधि का ठीक रखना, अर्थात् अपने चित्त को एकाग्र रखना)।

निर्वाण-प्राप्ति की बाधायें

निर्वाण-प्राप्ति के मार्ग में जो बाधायें आती हैं उन्हें **'दश संयोजन'** कहते हैं। ये बाधायें निम्न प्रकार हैं :—

(१) **सत्काय दृष्टि** (आत्मवाद—अहंभाव की दृष्टि)।

(२) विचिकित्सा (संशय)।

(३) शीलव्रत परामर्श (शील और व्रत को अहंभाव के साथ मिलाकर उन्हींकी चिन्ता करते रहना। मतलब यह कि शील और व्रत का पालन करना है तो अच्छा, परन्तु हमेशा इन्हींकी चिन्ता में लगा रहना हानिकारक है)।

(४) काम।

(५) द्वेष।

(६) रूप-राग।

(७) अरूप-राग (जिस स्वर्ग को हमने देखा नहीं है उसके सुख में आसक्त रहना)।

(८) मान (अभिमान)।

(९) उद्धतपन (उच्छृंखलता)।

(१०) अविद्या।

इनमें प्रथम तीन 'संयोजन' का भंग करनेवाला 'सोतापन्न' होता है, अर्थात् वह निर्वाण के प्रवाह में पड़ जाता है। शेष 'संयोजन' भी निर्वाण के मार्ग में बाधक होते हैं, क्योंकि वे मनुष्य को संसार के साथ बांध रखनेवाली जंजीरें हैं।

इसके अलावा बौद्धधर्म में दस शील, दस शिक्षा और छः पारमितायें बताई गई हैं।

दस शील

(१) हिंसा न करना, (२) चोरी न करना, (३) असत्य न बोलना, (४) शराब न पीना, (५) ब्रह्मचर्य-पालन, (६) रात में भोजन न करना, (७) पुष्पहार, चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थ धारण न करना, (८) जमीन पर बिस्तर लगाकर सोना, (९) नाच और गाने

बजाने से विरक्त रहना, और (१०) सुवर्णादि धातुओं का परिग्रह न करना (अपरिग्रह)—ये दस शील हैं, जो साधुओं के लिए खास तौर पर पालनीय हैं; पर ६ से ८ तक के शीलों का सप्ताह में एक बार पालन गृहस्थ को भी करने के लिए कहा गया है।

दस शिक्षा

दस शिक्षा इस प्रकार हैं—

(१) हिंसा न करना, (२) बिना दिये न लेना, (३) ब्रह्मचर्य-पालन, आर्थात् अपनी पत्नी के ही साथ विषय-सम्बन्ध रखना, (४) झूठ न बोलना, (५) चुगली न करना (६) उद्धतता या उच्छृंखलता का व्यवहार न करना, (७) व्यर्थ बकवास न करना, (८) लोभ न करना, (९) द्वेष न रखना, और (१०) विचिकित्सा अर्थात् शास्त्र और परमार्थ के सम्बन्ध में संदेह का भाव न रखना।

छः पारमितायें

छः पारमितायें, आर्थात् संसार-सागर से तैरकर पार हो जाने के साधन, हैं—(१) दान-पारमिता (द्रव्य, विद्या, धर्मोपदेश आदि का दान), (२) शील-पारमिता (उपर्युक्त शील का पालन), (३) क्षान्ति-पारमिता (दुःख की पर्वा न करना और दूसरों के अपराध को क्षमा कर देना), (४) वीर्य-पारमिता (यह उत्साह रखना कि संसार के प्रलोभनों को जीतकर कल्याण-पथ पर अग्रसर होने की मुझ में शक्ति है), (५) ध्यान-पारमिता (धर्म और बुद्ध भगवान का ध्यान करना), (६) प्रज्ञा-पारमिता (ज्ञान प्राप्त करना)।

स्त्रियों-संबंधी रुख

स्त्री-जाति के प्रति बुद्धदेव का बड़ा आदर था और समाज में स्त्रियों का सम्मान हो, यह उनकी इच्छा थी। छः दिशाओं की पूजा का रहस्य

समझाते हुए, पत्नी को दक्षिणदिशा के रूप में मानकर, उन्होंने बताया है, कि पश्चिम दिशा जो पत्नी है उसकी पूजा के ये पांच अंग हैं—(१) उसकी इज्जत करना, (२) उसका अपमान न होने देना, (३) एक पत्नीव्रत का आचरण करना, (४) गृह-व्यवस्था उसके सुपुर्द करना, और (५) वस्त्रालंकार या गहने-कपड़ों का उसे अभाव न होने देना। इन पांच अंगों से यदि पति पत्नी की पूजा करे तो पत्नी उस पति पर पांच प्रकार का अनुग्रह करती है—(१) घर में सुव्यवस्था रखती है, (२) नौकर-चाकरों की प्रेमपूर्वक देखभाल रखती है, (३) पतिव्रता होती है, (४) पति की कमाई हुई सम्पत्ति की रक्षा करती है (फजूलखर्ची नहीं करती), और (५) घर के सब काम-काज करने को तैयार रहती है।

स्त्रियों की स्थिति

बौद्ध काल में स्त्रियों की कैसी स्थिति थी, इस बारे में 'प्रबुद्ध भारत' में एक विद्वान ने लिखा है कि भिक्षुओं की अपेक्षा भिक्षुणियों की संख्या तो कम थी, परन्तु समाज म उन्हें बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त था। उनकी विद्या, बुद्धि एवं समाज पर उनके विशेष प्रभाव संबंधी बातों का पता हमें 'मालती-माधव' जैसी संस्कृत-पुस्तकों में मिलता है। कोई-कोई भिक्षुणी तो 'समनेरा' तथा 'अर्हत्' पद को भी पा सकती थी। महात्मा बुद्ध के जीवन-काल में सुत्तपिटक की थेरी-गाथा अनेक वृद्ध भिक्षुणियों द्वारा ही रची गई थी। इसमें की अधिक गाथायें न केवल अच्छी हैं बल्कि उसमें स्त्रियों की ईश्वर-भक्ति एवं बुद्धि के ज्वलन्त उदाहरण भी हमें मिलते हैं। उन्होंने नीति के सिद्धान्तों तथा बौद्धधर्म के उपदेशों का वर्णन बहुत ही सरलता से किया है। अनेक भिक्षु और भिक्षुणियां इन थेरियों के उपदेश सुनने के लिए एकत्र होते थे।

बौद्ध साहित्य में स्त्रियों को बहुत ऊँचा स्थान मिला हुआ है। पहले तो स्त्रियों को बौद्ध मन्दिरों से दूर रक्खा जाता था, परन्तु फिर धीरे-धीरे वही बौद्ध मन्दिरों की धनी-धोरी बन गई थीं।

बौद्ध धर्म की प्रबल लहर सब जातियों में फैल गई थीं। उसके उपदेशों का असर बहुत गहरा हो गया था। इस समय के राजवंश, वणिक-समाज तथा कारीगरों में भी आदर्श स्त्रियों के ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनपर से सिद्ध होता है कि विद्या और बुद्धि, धर्म और उदारता तथा दान और पुण्य की प्रवृत्ती किसी खास जाति की स्त्रियों में ही दृष्टिगोचर होतीं हों, यह बात नहीं थीं; प्रत्येक जाति और वर्ण की स्त्रियों में वह विद्यमान थी।

विवाह-विधान

बौद्ध युग में बाल-विवाह नहीं होते थे। कन्या के वयःप्राप्त होने पर ही उसका विवाह होता था। वर पसन्द करने की उसे स्वतंत्रता थी। विधवा-विवाह निम्न जातियों में ही नहीं, उच्च जातियों में भी होता था। बालक समझदार हो जाने पर ही उसके विवाह का विचार किया जाता था। प्रेम और स्वयंवर का भी रिवाज होगा, ऐसा प्रतीत होता है। कुमारियों के विवाह भी युवावस्था प्राप्त कर लेने तक नहीं होते थे। मामा की लड़की के साथ विवाह करने का रिवाज राज-कुटुम्बों और खासकर शाक्य वंशियों में प्रचलित था।

उद्धार-मार्ग

स्त्रियों को भ्रष्ट मानकर एकदम उनका परित्याग नहीं कर दिया जाता था। अम्बपाली गणिका तथा समाज से भ्रष्ट हुई अन्य कितनी ही स्त्रियों के प्रति भगवान् तथागत ने जो दया एवं सहानुभूति प्रकट की वह इस बात को सिद्ध करती है, साथ ही उससे यह भी प्रकट होता है,

कि बुद्धि की दुर्बलता के कारण पुरुषों की काम-वासना का शिकार होकर सत्पथ से गिरी हुई स्त्रियों का भी सुधार किया जा सकता है, और उनके जीवन का विशेष तिरस्कार न किया जाय तो, उनके हाथों भी समाज की अधिक लाभदायक सेवा हो सकती है।

१

बुद्ध-काल की सीता

माद्री

यह माद्री पण्डु की पत्नी और नकुल-सहदेव की माता माद्री नहीं, प्रत्युत् बुद्धकाल की एक स्त्री-रत्न है। उस समय, शिविदेश में संजय नामक राजा का राज्य था। उसके पुत्र का नाम था वेस्सन्तर। उसीकी यह पत्नी थी।

राजकुमार बड़ा पुण्यात्मा और दान करने में मुक्तहस्त था। उसके राज्य में सफेद हाथी थे और यह माना जाता था कि उन हाथियों के प्रताप से राज्य पर आक्रमण करके शत्रु सफल नहीं हो सकते। पर एक दिन कलिंग देश के आठ ब्राह्मण आये और उनके माँगने पर राजकुमार ने इन सफेद हाथियों को उन्हें दान कर दिया। प्रजा को जब यह मालूम पड़ा, तो वह बहुत नाराज़ हुई। उसे भय हुआ कि अब हमारे राज्य पर अवश्य कोई संकट आयेगा। अतः प्रजाजनों ने जाकर राजा संजय से पुकार की। उस समय के राजा बड़े न्यायी और निष्पक्ष होते थे, न्याय के सामने अपने-पराये का वे कोई विचार नहीं रखते थे। महाराज संजय को प्रजा की बात उचित प्रतीत हुई, और उन्होंने अपने पुत्र को देश-निकाले की सज़ा दे दी।

राजकुमार को जब पिता की यह आज्ञा मिली, तो उसने सात सौ वस्तुओं का महादान करने के लिए राजा से एक दिन का अवकाश माँगा। इस तमाम दिन दानालय में जाकर उसने अनेक बहुमूल्य पदार्थों का दान किया और रात होने पर सोचने लगा—"कल सुबह तो मुझे यह देश छोड़कर जाना ही है, अतः अभी जाकर माता-पिता से विदा क्यों न हो आऊँ ? रातों रात मैं महल छोड़ दूँगा और फिर वापस नहीं आऊँगा।"

रथ पर बैठकर वह पिता के महल में गया। इधर उसकी पत्नी माद्री मन-ही-मन सोचने लगी—"मैं भी फिर इस राजमहल में नहीं आऊँगी। मैं भी क्यों न अभी सास-ससुर के चरण छूकर उनसे विदा ले आऊँ और पतिदेव के साथ ही चली जाऊँ ?" यह सोचकर माद्री भी पति के साथ ही रथ में जा बैठी।

वेस्सन्तर ने पिता के पास जाकर भक्तिपूर्वक उनके चरण छुए और कहने लगा—"प्रजा ने मुझे देश-निकाला दिया है। कल मैं वंक पर्वत की ओर चल दूँगा। पिताजी! मनुष्य मात्र लाभ-हानि, यश-अपयश, निन्दा-स्तुति, सुख-दुःख इस आठ प्रकार के लोक-धर्म के अधीन है। इस दुनिया में जीवमात्र को कभी तो सुख और कभी दुःख भोगना पड़ा है, भोगना पड़ता है, और भोगना पड़ेगा। समस्त जीवन-पर्यन्त सुख ही सुख कोई भी मनुष्य कदापि नहीं भोग सकता। मृत्यु के मुख में तो सबको एक-न-एक दिन जाना ही पड़ेगा, यह सोचकर इस सब दुःख के विचारों से मुक्त होकर सर्वज्ञता प्राप्त करने के उद्देश से मैंने अपने महल की सब वस्तु ऐसे लोगों को दान करदी

हैं जिन्हें उनकी आवश्यकता है; और उनकी प्रार्थनानुसार ही मैं इस राज्य का भी त्याग कर रहा हूं। सम्पत्ति और विपत्ति से मनुष्य कभी भी सम्पूर्णतः मुक्त नहीं रह सकता, इसलिए अभी तो मैं शेर, चीते, रीछ आदि मनुष्य को फाड़कर खा जानेवाले विकराल जानवरों से बसे हुए घोर वन में ग़रीबी के साथ वास करूँगा; मगर मेरा ऐसा विश्वास है कि इस अरण्यवास में ही मेरे हाथों कोई ऐसा कार्य होगा, कि जिससे मेरा प्रयोजन सिद्ध होगा।"

पिता के साथ इस तरह बातचीत करके वेस्सन्तर माता के पास गया और माता को सम्बोधन करके कहने लगा—"माँ! तेरे स्नेह और लाड़-प्यार का बदला मैं कभी भी नहीं चुका सकता। मैंने अपनी निजी सम्पत्ति दान करदी, यह बात प्रजा को बहुत अखरी है। इस पाप के कारण, मुझे देश-निकाला मिला है। अब मैं वंक-पर्वत पर जाकर गरीबी के साथ अपना जीवन बिताऊँगा। माता! शुभ कामनाओं के साथ तुम मुझे विदाई दो।"

माता ने कहा—"बेटा! वंक पर्वत पर जाकर तू यती बनकर अभिज्ञान एवं समापत्ति प्राप्त कर। पर, मेरी इस कोमलाङ्गी वधू ने तो कभी भी ठण्ड और धूप नहीं सही है, घोर अरण्य इसके रहने लायक़ स्थान हर्गिज़ नहीं है। ज्ञान की शोध में जानेवाले पति के साथ जाना इसके लिए उचित नहीं। भला अपने साथ इसे भी ले जाने की क्या ज़रूरत? पुत्र-सहित उसे तो घर में रहने दे।"

"माता" वेस्सन्तर ने कहा—"अपने शरीर पर भी मेरी तो कोई सत्ता नहीं है, खासकर इस समय तो मैं ऐसी दशा में हूँ कि अपने

खरीदे हुए गुलाम को भी अपने साथ चलने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। माद्री अपनी खुद की इच्छा से मेरे साथ जंगल में चलना चाहे तो भले ही चले, और यदि घर रहना चाहे तो सुखपूर्वक घर में रहे।"

माँ-बेटे की बातचीत सुनकर राजा संजय भी वहाँ आ पहुँचे और माद्री से कहने लगे—"बेटी माद्री! तुम्हें तो राजमहल में रहकर चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थ शरीर में लगाने की आदत है। जंगल में जाकर धूल से शरीर को बिगाड़ डालने की इच्छा तुम क्यों करती हो? तुम तो काशी के बने बहुमूल्य वस्त्र पहरनेवाली हो, अब वल्कल वस्त्र धारण करने की अभिलाषा किसलिए करती हो? जंगल का निवास कोई बच्चों का खेल नहीं है। संसारत्यागी और दुःख भुगतने के अभ्यासी साधु-सन्तों को तथा राज्य से सजा पानेवाले अपराधियों को भी वह अखरता है, तो फिर तुम्हारी तो बात ही क्या है। तुम तो शरीर और मन दोनों से दुर्बल हो, साधारण बात में ही भयभीत हो जाती हो। जंगल तुम्हारे योग्य स्थान नहीं। अतः मेरी तो यह सलाह है राजकुमार के साथ तुम वहाँ मत जाओ।"

"आर्य!" माद्री ने कहा—"आप जो कुछ कह रहे हैं वह सब सच है, परन्तु स्वामी से अलग रहकर अपने शरीर पर तैल-फुलेल और चन्दन आदि का लेप करने, कोमल सुख-शय्या पर सोने, या काशी के बहुमूल्य वस्त्र पहरने की मुझे ज़रा भी इच्छा नहीं है। मैं तो अपने स्वामी के साथ धूलि-धूसरित रास्तों में फिरना, वल्कल धारण करना और कन्दमूलादि जो-कुछ मिले उसे खाकर जंगल में

ज़मीन पर ही सो रहना पसन्द करती हूँ। इसीमें अपना परमसुख समझती हूँ। इसलिए, मेरे लिए आप ज़रा भी फ़िक्र न करें।"

महाराज संजय ने अब दूसरा ढंग अख़्तयार किया। माद्री को भयभीत करने के उद्देश से उन्होंने कहा—"बेटी! मेरी बात ध्यान देकर सुन। जंगल अपने राजमहल जैसा नहीं है; वहाँ तो ततैये, मधुमक्खी, विच्छू आदि अनेक ऐसे जानवर हैं जिनके काटने से बड़ी वेदना होती है। मनुष्य को सारे-का-सारा निगल जायँ, ऐसे-ऐसे बड़े विषधर सर्प (अजगर) वहाँ रहते हैं। काले और बड़े-बड़े बालों वाले रीछ रहते हैं। उनकी एक बार नज़र पड़ने भर की देर है, फिर चाहे वृक्ष पर ही क्यों न चढ़ जाओ, उनसे पीछा नहीं छूटता। नदी-किनारे सुई की नोक जैसे पैने सींगवाले जानवर रहते हैं। इतनी सब आफ़तों से तुम कैसे अपनी रक्षा करोगी? यहाँ महल में बैठे-बैठे तो कई बार सियार की आवाज़ सुनकर ही तुम मूर्छित हो जाती हो, फिर बंक पर्वत पर जाना तुम्हारे लिए कैसे संभव है? दोपहर को इकट्ठे होकर पक्षी जो कलव करते हैं, अरण्य में से निकलनेवाली उसकी प्रतिध्वनि भी बड़ी भयंकर होती है। जिस वन में भय के ऐसे अनेक कारण मौजूद हैं, वहाँ तुम भला कैसे रह सकोगी?"

"महाराज!" माद्री ने शान्ति पर दृढ़ता के साथ जवाब दिया—"आपकी बताई हुई सब आफ़तें भी मुझे अपने स्वामी के साथ बन में जाने से नहीं रोक सकतीं। स्वामी के साथ वनवास में जो भी कष्ट उपस्थित होंगे, धीरज के साथ मैं उन सबको सहन करूँगी स्वामी की सुविधा का मैं पूरा ख़्याल रक्खूँगी—यहाँ तक कि

कोमल बेल या घास का तिनका तक उनको न चुभने पाये, इसका प्रयत्न करूंगी।

"आर्य! स्त्री के लिए अच्छे पति का संयोग एक दुर्लभ वस्तु है। अच्छा पति पाने ही के लिए कन्यायें कर्त्तव्यपरायण होकर माँ-बाप की सेवा-टहल करती रहती हैं, सदाचार और पवित्रता के साथ नैति-कता का पालन करती हैं, और ध्यानपूर्वक अच्छे वस्त्राभूषण पहनती हैं। स्त्री-जाति के लिए पति-विहीन होना बहुत बड़ा दुःख है, यह जानते हुए भी आप पति के साथ न जाकर घर में रहकर विधवा का सा जीवन-यापन करने की सलाह मुझे क्यों देते हैं।

"एक और दृष्टान्त मैं आपके सामने रखती हूँ। पुलिन, द्वीप और सुन्दर तटवाली नदी होने पर भी उसमें जल न हो तो सब व्यर्थ है। कोई नगर ऊँचे-ऊँचे परकोटे, महलों, पहरेदारों, बाग़-बग़ीचों, सुन्दर-सुन्दर दरवाज़ों, बड़े-बड़े भव्य भवनों से सुशोभित हो परन्तु उसमें शासन करनेवाले (शासक) का अभाव हो, तो वह सब व्यर्थ है। मनुष्य धनी और कुलीन हो परन्तु विद्या का उसमें अभाव हो, तो धन और कुल दोनों व्यर्थ हैं। मनुष्य के शरीर पर लाखों रुपयों के वस्त्राभूषण हों परन्तु उसका चरित्र अच्छा न हो तो सब व्यर्थ है। इसी प्रकार किसी स्त्री के दस भाई हों पर पति न हो तो उसका जीवन वृथा है।

"एक उदाहरण और आपको बताती हूँ। जिस प्रकार रथ की शक्ति विजय-पताका है, अग्नि की शक्ति धुआं है, राज्य की शक्ति राजा है, मनुष्य की शक्ति विद्या है, उसी प्रकार स्त्री की शक्ति उसका पति है। कोई पतिव्रता स्त्री स्वामी के सुख-दुःख में शामिल होती है,

तो देवता, ब्राह्मण और स्वयं इन्द्र भी उसकी प्रशंसा करते हैं। अब आपके पुत्र गेरुए कपड़े धारण करेंगे, इसलिए मैं भी उनके साथ ऐसे ही वस्त्र धारण करके सब ऋतुओं में उनके दुःख में भागीदार बनती हुई उनके साथ-साथ ही रहूँगी। कोई हिंसक जानवर आयगा तो पहले मैं आगे बढ़ूंगी, ताकि पहले मैं मर जाऊँ। अकेले यहाँ रहकर तो मैं सारे राज्य का शासक भी नहीं बनना चाहती। हाँ, आपके पुत्र राज्य करते होते तो मैं जरूर उस राज्य-सुख में भागीदार बनती। जो स्त्री सुख में तो स्वामी के साथ रहे पर दुःख में उसका साथ छोड़ दे वह तो पिशाचिनी और राक्षसी के समान निकृष्ट है अतएव मैं तो अपने स्वामी की सहचारिणी ही बनूंगी।"

महाराज संजय ने कहा—"स्वामी की सुपत्नी के रूप में उसके सुख-दुःख में भागीदार बनने सम्बन्धी जो-जो युक्तियां तुमने दीं वे सब उचित ही हैं; इन सबको देखते हुए तुम्हें तो अब मैं जंगलमें जाने से न रोकूँगा। परन्तु फूल-जैसे ये दोनों बालक! इनके लिए तो अरण्य किसी भी प्रकार उचित स्थान नहीं है; इन्हें तो तुम मेरे पास ही छोड़ जाओ। तुमसे भी अधिक ध्यान और लाड़-प्यार के साथ हम इनका पालन करेंगे।"

"पिताजी!" माद्री ने कहा—"आपकी इन सन्तानों को मैं प्राणों से भी अधिक चाहती हूँ। बनवास के समय जब कभी नगर और राजमहल की याद आयगी तो उस दुःख के कारण मृतप्राय दशा हो जायगी। ऐसे समय इन सुकुमार प्यारे बालकों के मुँह देख-देखकर ही मैं अपना दुःख भुलाकर शान्ति प्राप्त करूँगी।"

इतने पर भी राजा संजय का मन शान्त नहीं हुआ, क्योंकि अपने पोता-पोती के प्रति उसे बहुत स्नेह था। अतः एक बार फिर वन के दुःखों की, राजवैभव के जिस सुख में उनका पालन हो रहा था उससे, तुलना की और माद्री से आग्रह किया कि उन्हें राजमहल में ही छोड़ जाय। परन्तु माद्री ने यही जवाब दिया—"आर्य! आप इनकी ज़रा भी चिन्ता न करें। आपके पोता-पोती की मैं अच्छी तरह देखभाल रक्खूँगी। मुझे जो भी खाने-पीने और पहरने-ओढ़ने को मिलेगा वह पहले इन्हें देकर तब अपने लिए लूँगी। इन्हें किसी भी तरह की तकलीफ़ न हो, इसका मैं ख़ास तौर पर ध्यान रक्खूँगी।"

ससुर राजा संजय और पुत्रवधू माद्री के बीच इस प्रकार वार्तालाप होते-होते सारी रात बीत गई और प्रभात होने लगा। चार घोड़ों से जुता हुआ रथ महल के दरवाज़े पर आकर राजकुमार की प्रतीक्षा करने लगा। तब माद्री ने विनीत-भाव से सास-ससुर के पैर छूकर उनसे विदा माँगी और दास-दासियों के साथ विदाई की थोड़ी मधुर बातें करके बालकों के साथ वेस्सन्तर से भी पहले रथ में जा बैठी। पश्चात् राजकुमार वेस्सन्तर भी बड़ी इज्जत के साथ अपने जनक-जननी की प्रदक्षिणा करके रथ में बैठा और रथ वंक-पर्वत की ओर चल दिया।

× × × ×

माद्री के जीवन का उत्तरार्ध भी बोधप्रद है। प्रातः स्मरणीया सीताजी के महान् चरित्र से पतिभक्ति का कैसा सुन्दर और उज्ज्वल आदर्श आर्य स्त्रियों के सामने उपस्थित हुआ है और संस्कारवान पति-

व्रता स्त्रियों के जीवन में उस महान् आदर्श की किस सुन्दरता के साथ पुनरावृत्ति होती रही है, यह माद्री के चरित्र पर से स्पष्ट मालूम पड़ता है।

पति के साथ बनवास करते हुए बहुत समय बीत चुका था। एक दिन सवेरे माद्री पति के लिए फल-फूल तथा कन्द-मूल लेने गई हुई थी कि जूजक नाम के एक ब्राह्मण ने आकर वेस्सन्तर से प्रार्थना की—"मैं वृद्ध ब्राह्मण हूँ। मेरी पत्नी को दास-दासी की आवश्यकता है। आप अपने पुत्र-पुत्री को प्रदान करदें तो मेरा घर जम जाय।"

वेस्सन्तर इन्कार करना तो सीखा ही नहीं था। उसने दोनों बालक तुरन्त ब्राह्मण को सौंप दिये। माद्री जब फल-फूलादि लेकर आश्रम में लौटी तो बच्चों को न देखकर बहुत व्याकुल हुई और पति से पूछा, परन्तु वह मौन व्रत लिये हुए था। अतः रोती-कलपती हुई वह जंगल में जाकर बालकों की खोज करने लगी। दूसरे दिन जब पति ने उनको दान में देने का सारा हाल सुनाया तब इसे मालूम पड़ा। परन्तु शान्त-चित्तवाली इस सती ने सिर्फ़ इतना ही कहा—"आपने बालकों का दान किया, इसमें मैं आपसे पूरी तरह सहमत हूँ; परन्तु यह बात आपने कल ही मुझे क्यों नहीं कह दी?"

वेस्सन्तर के दान की प्रशंसा ऐसी बातों से चहुँ ओर फैल गई। इन्द्र को भय होने लगा कि कहीं अपनी पत्नी को भी यह दान में न दे दे। अतः एक बार साधु का वेश धारणकर वह इसकी कुटी में गया और माद्री को दान में माँगा। वेस्सन्तर ने तत्काल साधुवेशधारी इन्द्र के हाथ में पानी रखकर अपनी पत्नी माद्री का दान कर दिया।

तब इन्द्र ने अपना असली रूप धारणकर कहा—"पतिव्रता माद्रीदेवी अब मेरी हो चुकी हैं, पर अमानत के तौर पर मैं इन्हें तुम्हारे ही पास छोड़ जाता हूँ। इनका अच्छी तरह पालन करना और इस बात का ध्यान रखना कि अब तुम इनका दान करने के अधिकारी नहीं रहे हो।"

कुछ समय बाद जूजक ब्राह्मण के द्वारा महाराज संजय को राजकुमार के निवास-स्थान की खबर मिली और वह अपने अमात्य के साथ वंकपर्वत आकर पुत्र तथा पुत्रवधू को वापस ले गया।

कहते हैं कि वेस्सन्तर पूर्व-जन्म के बोधिसत्त्व थे और इस जन्म में प्रिय पत्नी एवं बालकों का दान करके उन्होंने 'दान-पारमिता' गुण का अभ्यास किया था।

माद्रीदेवी (मद्दी) का जीवन तो सचमुच बोधप्रद और प्रशंसा के योग्य है। इसके जीवन को देखते हुए, किसी अंश में, यदि हम इसे 'बौद्ध काल की सीता' कहें तो अत्युक्ति न होगी।

२

पति-अनुगामिनी

चुल्लबोधि-पत्नी

बोधिसत्त्व पूर्वजन्म में एक बार काशी-राज्य के एक ब्राह्मण-कुटुम्ब में पैदा हुए थे। इस जन्म का इनका नाम चुल्ल-बोधि था। इनकी पत्नी बड़ी सुशील थी। विवाह तो हो गया था, किन्तु पति की प्रवृत्ति वैराग्य की ओर थी; इससे इस तरुण विदुषी ने भी अपनी काम-वृत्तियों को अंकुश में रखकर, पति की धर्म-साधना में सहायक होने के उद्देश से, उसके व्रत में बाधा नहीं पड़ने दी। आख़िर जब चुल्लबोधि के माता-पिता की मृत्यु हो गई, तब उसने अपनी पत्नी से कहा—"भद्रे! हमारे पूर्वजों की इस अपार सम्पत्ति को तू ग्रहण कर और दानादि पुण्यकर्म करके सुख-पूर्वक इस घर में अपना जीवन-यापन कर। मैं तो अब गृहस्थाश्रम से ऊब गया हूँ, और परिव्राजक बनकर हिमालय पर निवास करना चाहता हूँ।"

"आर्यपुत्र!" उसकी पत्नी ने कहा—"क्या ऐसा कोई नियम है कि पुरुष ही परिव्राजक बनें और स्त्रियाँ नहीं?"

बोधिसत्त्व ने कहा—"ऐसा कोई नियम तो नहीं है, परन्तु तू उच्चकुल में पैदा हुई सुकुमार स्त्री है, बनवास के दुःख तुझसे नहीं सहे

जायंगे; इसलिए मैं कहता हूं कि तू इस घर में रहकर ही दानादि पुण्य कर्म कर।"

बोधिसत्त्व ने उसे अपने साथ न चलने के लिए बहुतेरा समझाया, परन्तु सती स्त्री ने भावी दुःखों की कोई पर्वा न करके तपस्वी वेश धारण कर पति के मार्ग का ही अवलम्बन किया। इसके बाद कुछ समय तो दोनों ने फल-मूल खाकर हिमालय में व्यतीत किया, पश्चात् भिक्षा माँगने के लिए काशी-राज्य में आये।

काशीराज एक दिन बाग़ में घूमने गये थे, वहां उन्होंने एक वृक्ष के नीचे बोधिसत्त्व को और दूसरे के नीचे उनकी पत्नी को देखा। स्त्री के रूप को देखकर राजा उसपर मोहित हो गये और बोधिसत्त्व की ज़रा भी पर्वा न करते हुए उस स्त्री को अपने महल में ले चलने का उन्होंने सिपाहियों को हुक्म दिया। राजमहल में राजा ने स्त्री को प्रलोभनों द्वारा अपने वशीभूत करने का प्रयत्न किया, परन्तु भय या प्रलोभन किसीका भी इस पतिव्रता पर कोई असर नहीं हुआ। आख़िर राजा ने भी बलात्कार से उसका सतीत्व नष्ट करने का विचार छोड़ दिया और उसको वापस बोधिसत्त्व के पास भिजवा दिया।

पति की उच्च-अभिलाषाओं का पोषण करने, दुःख में पति की सहचारिणी होने और आपत्ति में भी पतिव्रत-धर्म पर अटल रहने के लिए चुल्लबोधि-पत्नी की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

३

बुद्ध-जननी

मायादेवी

बुद्ध-जननी मायादेवी कोलिया देश के राजा महासुप्रबुद्ध की ज्येष्ठ कन्या थी और देवदह नगर में इनका जन्म हुआ था। इनके जन्म-समय ब्राह्मणों ने भविष्यवाणी की थी कि इस कन्या के उदर से चक्रवर्ती कुमार का जन्म होगा। पिता के घर इन्होंने ऊँचे दर्जे की शिक्षा पाई थी, और अनेक सद्गुणों से इनका जीवन विभूषित हुआ था। कपिलवस्तु के पराक्रमी राजा शुद्धोदन के साथ इनका विवाह हुआ था। उन्होंने इनको अपनी पटरानी के स्थान पर आसीन किया।

मायादेवी में मिथ्या माया का लेशमात्र नहीं था। इनका रूप अपूर्व था और अज्ञान-रूपी अन्धकार का इन्होंने नाश किया था। प्रजा के साथ इनका व्यवहार माता के समान था, सदा उसके कल्याण में ही तल्लीन रहती थीं। गुरुजनों के प्रति साक्षात् भक्ती-रूप बनकर उनकी आज्ञा का पालन करती थीं। थोड़े में कहो तो, राजा शुद्धोदन के राजमहल तथा उनके समस्त राज्य में मायादेवी मानों लक्ष्मी के समान थी। प्रजा भी उनके प्रति पूर्ण आदरभाव रखती थी एसा हो भी क्यों न, जब कि जिस महापुरुष के द्वारा समस्त जगत् का कल्याण होनेवाला था, जिसके द्वारा जगत् को सबके प्रति दया, मैत्री, करुणा

क्षमा आदि सदाचारों का संदेश मिलनेवाला था, उसकी माता होने का सौभाग्य विधाता ने उनके लिए निर्मित किया।

आषाढ़ी पूर्णिमा से पहले के सात दिन कपिल वस्तु में एक महान् उत्सव प्रारम्भ होता था। मायादेवी सात दिन तक चन्दन-पुष्पादि से अपने शरीर को सज्जितकर बड़े आनन्द के साथ उत्सव में शामिल होती। मायादेवी में कोई व्यसन बिलकुल नहीं था शराब वह कभी भी नहीं पीती थीं, और आजीवन उन्होंने इस नियम का पालन किया था। अन्य क्षत्रिय स्त्री-पुरुष इस समय की प्राथानुसार इस उत्सव में मदिरा-पान करते, परन्तु मायादेवी सब तरह के मादक पदार्थों से अलिप्त ही रहती थीं।

एक साल इस पूर्णिमा के दिन मायादेवी न अन्धे-लूले आदि पराश्रितों तथा श्रमण ब्राह्मणों को खूब दान दिया और रात को बहुत-सा समय शास्त्र की कथा सुनने में व्यतीत किया। इसी रात को सोते हुए इन्होंने स्वप्न देखा कि चारों दिशाओं के रक्षक देवता इन्हें उठाकर हिमालय पर्वत पर ले गये और वहाँ एक विशाल शाल-वृक्ष के नीचे इन्हें रख दिया। पश्चात् उन चारों देवताओं की स्त्रियों ने आकर दिव्य सुगंधित पदार्थों से मायादेवी को स्नान कराया एवं दिव्य वस्त्रालंकारों से सज्जितकर सुवर्ण-विमान में एक बढ़िया पलंग के ऊपर पूर्व की ओर सिर करके इन्हें लिटा दिया। इसके बाद एक सफेद हाथी वहाँ आया और अपनी रुपहरी सूँड में एक सफ़ेद कमल लेकर उसने मायादेवी की तीन बार परिक्रमा की, फिर उसकी दाहिनी कोख में होकर धीरे-धीरे उसके उदर में समा गया।

सवेरा होने पर रानी ने राजा से स्वप्न की बात कही। राजा ने ब्राह्मणों व ज्योतिषियों को बुलाकर स्वप्न का वृत्तान्त बताया और उसका फल पूछा।

ब्राह्मणों ने कहा—"महारानी के पेट से एक महापुरुष का जन्म होनेवाला है। वह गृहस्थाश्रम में रहेगा तो चक्रवर्त्ती राजा होगा और संन्यासी होगा तो बुद्ध होकर जगत् का अन्धकार दूर करेगा।"

अब तो महारानी मायादेवी की इज़्ज़त और भी बढ़ गई। राजा अत्यन्त प्रेम का व्यवहार करता और उनका बड़ा ख़याल रखता।

मायादेवी गर्भवती हुईं। स्वभाव तो उनका मूल से ही दयालु था, गर्भवती होने के बाद जन-साधारण के प्रति उनकी दया में और वृद्धि होती गई। विषय-वासना का उनके हृदय से बिलकुल लोप हो गया। पति के प्रति प्रेम में बहुत वृद्धि हुई। परन्तु पहले इस प्रेम में विषय-वासना का जो अंश था, वह इस अभिनव प्रेम में नहीं रहा।

नौ महीने पूरे होने आये तब इन्हें पीहर जाने की इच्छा हुई। कपिल-वस्तु से देवदह जाते हुए रास्ते में लुम्बिनी नाम के एक सुन्दर बगीचे में इनका पड़ाव रक्खा गया था। वहीं इन्हें प्रसव-पीड़ा हुई और वैशाख सुदी पूर्णिमा के दिन वहीं बोधिसत्व गौतमबुद्ध का जन्म हुआ। सिद्धार्थ उनका नाम रक्खा गया।

पुत्र के विशाल प्रभाव को देखकर मायादेवी हर्षोत्फुल्ल हो गईं और सिद्धार्थ सात दिन का हुआ, इतने में तो वह अमरत्व प्राप्त करने के लिए देवलोक को ही चली गईं!

४

बुद्ध-विमाता

महाप्रजावती गौतमी

विमाता शब्द सामने आते ही साधारणतः हमारे मन में कुछ निरादर के से भाव उत्पन्न होते हैं, परन्तु बुद्ध-विमाता महाप्रजावती गौतमी ने अपने आचरण द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि विमाता मूलतः बुरी नहीं होती। विमाता के रूप में जो उज्ज्वल और उत्कर्षकारक आदर्श उन्होंने संसार के सामने उपस्थित किया है उसके कारण आज भी वह हमारे लिए अभिवन्दनीय हैं।

कोलिया देश की राजधानी देवदह (देव-हृद) नगर में, शाक्य-वंश के राजा महासुप्रबुद्ध के यहाँ इनका जन्म हुआ था। गौतम गोत्र होने से यह गौतमी नाम से प्रसिद्ध हुई हैं। पूर्वजन्म के सत्कर्मों के कारण, बाल्यावस्था से ही इनका स्वभाव बहुत अच्छा था। सदाचार और कर्त्तव्य परायणता इनके विशेष गुण थे। बुद्ध-जननी मायादेवी इनकी बड़ी बहन थीं। पैदा होते समय इन दोनों बहनों के शरीर पर शुभ चिन्ह दृष्टिगोचर हुए थे। ज्योतिष और सामुद्रिक शास्त्र के ज्ञाता विद्वान् ब्राह्मणों ने दोनों की जन्म-कुण्डलियाँ बनाकर भविष्यवाणी की थी कि इनकी सन्तान चक्रवर्ती राजा होगी, फिर वह चाहे मनुष्यों के पार्थिव राज्य के राजा हों या उनके हृदय-साम्राज्य के।

देवदह नगर के पास, रोहिणी नदी के किनारे, कपिलवस्तु नामक नगर में शुद्धोदन नाम के राजा का राज्य था। गौतमी और उनकी बहन मायावती इन दोनों का उसीके साथ विवाह हुआ था। वैशाख सुदी पूर्णिमा के शुभ दिन नैपाल की तराई में लुंबिनी नामक बगीचे के अन्दर मायावती ने बुद्धदेव को जन्म दिया, परन्तु इसके सातवें ही दिन मायादेवी की मृत्यु हो गई। राजा को अब बड़ी चिन्ता हुई। जिस पुत्र के लिए ब्राह्मण-ज्योतिषियों ने बड़ी-बड़ी आशायें बँधाई थीं, जिसमें असंख्य शुभ लक्षण बतलाये थे, उसकी माता सातवें ही दिन परलोकवासिनी हो गई।

राजा इसी चिन्ता में लीन रहने लगे कि उसकी परवरिश के लिए अब ऐसी स्त्री कहाँ ढूँढी जाय, जो स्नेह परिपूर्ण, राग-द्वेष से रहित, चतुर, शान्त और मातृपद ग्रहण करने को तैयार हो। महाप्रजावती गौतमी के इसी समय नन्द नाम का लड़का हुआ था, इससे वह भी खाली नहीं थीं। मायादेवी की मृत्यु के बाद उन्हें 'अग्रमहिषी' 'महा-प्रजावती' और 'पटरानी' का पद प्राप्त हुआ था; इसलिए घर-गिरिस्ती की ज़िम्मेवारी भी बढ़ गई थी। परन्तु अपनी स्वर्गवासिनी बहन मायादेवी पर इनका निःस्वार्थ प्रेम था, फिर पति की परेशानी भी वह समझती थी। अतः यह उदार विचार करके कि बोधिसत्व-जैसे उज्ज्वल भविष्यवाले कुमार को परिवरिश करने और बड़ी बहन के प्रेम का बदला चुकाने का अवसर आया है तो उसे हर्गिज़ नहीं छोड़ना चाहिए, इन्होंने अपने पुत्र को तो एक विश्वस्त दाई के सुपुर्द कर दिया और बहन के पुत्र गौतम को अपना स्तनपान कराकर उसकी परवरिश

करने का भार अपने ऊपर ले लिया। बड़े लाड़-प्यार के साथ अपनी ही सन्तान के तौर पर इन्होंने बुद्धदेव का अत्यन्त प्रेमपूर्वक लालन-पालन किया। प्रोफ़ेसर भागवत का यह लिखना ठीक ही है कि "गौतम बुद्ध की पिछली वय में ज्ञान-लालसा, दया, उत्साह, बुद्धि की तीव्रता, उद्योग, विशद दृष्टि, कार्य-दक्षता, नेता बनने की कुशलता आदि जो गुण प्रकट हुए थे उनका अधिकांश श्रेय गौतमी को ही है।"

बुद्धदेव संसार का परित्याग करके वनवासी हुए तब महाप्रजावती गौतमी के प्रेमल हृदय को बड़ी चोट पहुँची थी।

अनेक वर्षों तक उत्तर भारत के मुख्य-मुख्य स्थानों में धर्मोपदेश करके बुद्धदेव अपने पिता की राजधानी कपिल-वस्तु में पहुँचे। वहाँ भी उन्होंने धर्मोपदेश किया। फलतः उनके पिता शुद्धोदन ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया और 'अर्हत्' पद प्राप्त करने के प्रथम सोपान-स्वरूप 'श्रोतापन्न' पद प्राप्त किया। बुद्धदेव के पुत्र राहुल ने श्रमण की दीक्षा ली। कुछ समय बाद अर्हत् पद पाकर राजा ने महानिर्वाण प्राप्त किया। तदुपरान्त कुछ ही दिनों में गौतमी के एकमात्र पुत्र नन्द ने भी, अपने विवाह और राज्याभिषेक के ही दिन, घरबार छोड़कर संन्यास-धर्म की दीक्षा ले ली। उसके बाद, शाक्यवंश के अनेक क्षत्रियों ने भी संसार का परित्याग किया।

कपिल वस्तु में महाप्रजावती गौतमी ने बुद्धदेव का उपदेश बहुत सुना था। ऐसे महाज्ञानी बोधिसत्व को उन्होंने स्तन-पान कराया है और पाल-पोसकर बड़ा किया है, इसका उन्हें अभिमान था। बौद्ध धर्म के प्रति उन्हें श्रद्धा हो गई थी। पति की मृत्यु और पौत्र राहुल तथा

पुत्र नन्द के संसार-त्याग से उनके मन में भी संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न हुआ। उन्हें विचार हुआ, कि 'क्या पुरुष ही भिक्षु बनकर ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके धर्म-प्रचार कर सकते हैं और हम स्त्रियाँ ऐसा पुण्य कार्य नहीं कर सकतीं? मैं भी इस स्वार्थी संसार का परित्याग करूँगी, सब वासनाओं को छोड़ दूँगी, समस्त संसार को अपना कुटुम्ब मानूँगी और सर्वत्र विचरण करके लोगों को उन्नत मार्ग पर अग्रसर करने का प्रयत्न करूँगी।' गौतमी ने दृढ़ता से यह निश्चय किया—यही नहीं बल्कि अन्य पाँचसौ स्त्रियों के हृदय में भी उन्होंने ये शुभ विचार भर दिये।

बुद्धदेव वैशाली में विराजमान थे, उस समय महाप्रजावती गौतमी मुण्डन कराकर ५०० शाक्य स्त्रियों के साथ वहाँ जा पहुँचीं। राज-घराने की इन स्त्रियों को पैदल चलने का यह पहला ही अवसर था, अतः उनके पैर सूज गये थे और उनके मुखपर विशाद के चिह्न थे। विशाद इसलिए कि इससे पहले कपिलवस्तु में इन्होंने भिक्षुणी-संघ स्थापित करने की बुद्धदेव से प्रार्थना की थी; परन्तु ऐसा करने में भिक्षुओं और भिक्षुणियों में लड़ाई-झगड़े शुरू होने का भय होने से बुद्धदेव ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया था। पर इस बार ये अधिक दृढ़ संकल्प के साथ बुद्धदेव के पास गई थीं। बुद्धदेव के शिष्य आनन्द के द्वारा इन्होंने अपना उद्देश बतलाया। आनन्द ने बात चलाकर पूछा—"भगवन्! हमारे धर्म का साक्षात्कार स्त्रियाँ भी कर सकती हैं या नहीं?" बुद्धदेव पहले भी कई बार ऐसा उपदेश कर चुके थे, कि स्त्रियों को धर्मशास्त्र समझने का अधिकार है,

इसलिए इस समय भी साफ़ तौर पर उन्होंने यही जवाब दिया—"मेरे धर्म का रहस्य जितना पुरुष समझ सकते हैं उतना ही स्त्रियाँ भी समझ सकती हैं।" अब तो आनन्द को मौक़ा मिल गया। वह बोला—"यदि ऐसी बात है, तो आप महाप्रजावती देवी को किसलिए निराश करते हैं ? उनकी प्रार्थना क्यों नहीं स्वीकार करते ? उन्होंने ही आपका पालन-पोषण किया है, आपके ऊपर उनका बड़ा स्नेह है। उनके समाधान के लिए, आप ऐसा नियम कीजिए कि जिससे स्त्रियाँ भी परिव्राजक हो सकें।"

बुद्धदेव ने आनन्द की बात मानली और महाप्रजावती तथा उनके साथ आई हुई ५०० शाक्य-कुमारियों को परिव्राजिका बनाकर एक नये भिक्षुणी-संघ की स्थापना की। भारतवर्ष में स्त्रियों के अधिकारों के बारे में यह दिन सुवर्णाक्षरों से लिख रखने के लायक़ था। महाप्रजावती इस भिक्षुणी-संघ की प्रधान बनीं और बुद्धदेव ने भिक्षुणियों को धर्मोपदेश दिया। इनकी योग्यता देखकर कुछ समय बाद बुद्धदेव ने इन भिक्षुणियों को भिक्षुओं के अन्य अधिकार भी देकर स्वतंत्र कर दिया। इसके बाद इन्हें 'उप-सम्पदा' मिली। तब सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त होकर भिक्षुओं के मण्डल में सब बातों में मत देने का अधिकार इन स्त्रियों को मिल गया। महाप्रजावती तो पूर्वजन्म की संस्कृतिवान् स्त्री थीं, अतएव बुद्धदेव के उपदेश से कुछ ही समय में इन्हें समाधि-योग भी प्राप्त हुआ और एकाग्र चित्त से ध्यान-अनुष्ठान करके अलौकिक शक्ति एवं लग्न के द्वारा इन्होंने अर्हत् पद प्राप्त किया। प्रोफ़ेसर कौशाम्बी के कथनानुसार, ईस्वी सन की चौथी शताब्दि में गौतमी

द्वारा स्थापित इस भिक्षुणी-संघ का लोप हुआ। पर आजकल ब्रह्मदेव (बर्मा) में भी इस प्रकार की एक संस्था है जिसमें स्त्रियों को 'दस शीलधारिणी' उपासिका कहते हैं।

भगवान् बुद्धदेव जब जेतवन विहार में थे तब एक दिन उन्होंने प्रत्येक भिक्षुणी को उसके गुण और उसकी योग्यता के अनुसार दर्जा दिया था। इस अवसर पर गौतमी को उन्होंने सबकी प्रधान बनाया था और गौतमी ने कृतज्ञता के साथ बुद्धदेव के सम्मुख आत्म-ज्ञान एवं वैराग्य की सूचक बहुमूल्य गाथायें गाई थीं।

एक समय बुद्ध भगवान वैशाली नगर के पास महावन में कुटागार नामक नगर में थे और गौतमीदेवी वहाँ की भिक्षुणियों के उपाश्रय (उपासरा) में रहती थीं। वैशाली नगर से भिक्षा लाने के बाद एक दिन गौतमीदेवी अपने विश्राम स्थान में जाकर सोचने लगीं—"बुद्ध का 'परिनिर्वाण'—देह-त्याग, मुझसे नहीं देखा जायगा। इसी प्रकार उनके प्रधान शिष्य युगल, उनके अहर्निश सेवक आनन्द, मेरे पौत्र राहुल और पुत्र नन्दकुमार का देह-त्याग भी मुझसे कभी नहीं देखा जायगा। अतः इन सबसे पूछकर इनसे पहले ही क्यों न मैं अपना देह-त्याग करदूँ ?" यह सोचकर इन्होंने बुद्धदेव को अपने पास बुलवाया उनके आने पर, उनके चरणों में पड़कर, विनयपूर्वक इन्होंने उनसे देह-त्याग करने अर्थात् 'परिनिर्वाण' की आज्ञा माँगी। बुद्धदेव ने अपने स्वाभाविक कोमल पर गम्भीर स्वर में कहा—"अब तुम्हारे देह-त्याग का समय आगया है, खुशी से तुम ऐसा कर सकती हो।" इससे बाद आनन्द आदि सेवकों को बोध देकर और भिक्षुणियों को

उपदेश करके गौतमी समाधिस्थ होगई और उसी दशा में उनकी पवित्र आत्मा नश्वर देह को परित्याग कर निर्वाण को प्राप्त होगयी।

अपदान और थेरी-गाथा ग्रन्थों में इनकी रची हुई वाणी है, जिसके शब्द-शब्द में बुद्धदेव के प्रति इनकी स्नेहयुक्त भक्ति टपकती है। रचना बहुत सरल और सुखद है। यह कहती हैं :—

"हे सुगत ! मैं तेरी माता हूँ और तू मेरा वीर पिता है, क्योंकि उत्तम धर्म सिखाने के रूप में मुझे नया जन्म देकर तू मेरा पिता बना है। मैंने तुझे लाड़-प्यार के साथ छोटे से बड़ा किया है, शुद्ध और पवित्र धर्म-रूपी शरीर देकर तूने मुझे बड़ी किया है। मैंने तो तेरी एक क्षणिक प्यास बुझाने के लिए ही तुझे अपना दूध पिलाया है, पर तूने जो मुझे धर्म का दूध पिलाया है उससे तो मुझे अक्षय शान्ति मिली है। मान्धाता आदि राजाओं की माता का नाम इस भवसागर में विलुप्त होगया है; पर तेरी माँ होकर मैं भवसागर से पार हो गई हूँ।

"राजमाता, राजमहिषि आदि सब नाम स्त्रियों के लिए सुलभ हैं; पर बुद्धमाता नाम परम-दुर्लभ है। परिव्राजिका—भिक्षुणी बनने का अधिकार देने के लिए मैंने तुमसे बार-बार कहा था, इसलिए यदि मुझसे कोई अपराध हुआ हो तो हे सुरश्रेष्ठ, मुझे क्षमा करना।

"तुम्हारी आज्ञा से मैंने भिक्षुणियों के ऊपर शासन किया है। इस कार्य में किसी प्रकार की त्रुटि रह गई हो तो उसके लिए भी हे क्षमा-पिता (क्षमा के आधार) मुझे क्षमा करना।

"तुम जब छोटे-से थे तब तुम्हें देखकर और तुम्हारी तोतली

बोली सुनकर आँख-कान को जितनी तृप्ति नहीं हुई थी उतनी तृप्ति तुम्हारे दिये धर्म-रस का पान करने से हुई है।"

× × × ×

थेरी गाथा में महाप्रजावती कहती हैं :—"बुद्धवीर! मैं तुम्हें नमस्कार करती हूँ तुम ही सर्वसत्ता हो, सबसे श्रेष्ठ हो, मेरे जैसी कितनी ही स्त्रियों की दुखरूपी ज्वाला तुमने शान्त की है। दुःख का निदान अब मुझे मालूम होगया है। समस्त दुःख का मूल कारण जो तृष्णा है वह अब मुझमें नहीं रही। क्योंकि तुम्हारे दिये हुए ज्ञान के द्वारा मैंने धर्म के श्रेष्ठ आठ अंगों को प्राप्त किया है। पूर्वजन्मों में मैं माता, पुत्र, पिता और भाई के रूप में घर-घर भटकी हूँ; परन्तु अब मैंने भगवान को ढूँढ लिया है। यह मेरा अन्तिम जन्म है। संसार की मेरी गाँठ अब खुल गई है, इस भिक्षुणी को अब फिर से पैदा होना या मरना नहीं है। देखो! दृढ़ पराक्रम-पूर्वक सब साधु-मार्ग में विचरण कर रहे हैं। जीवन में साधुता प्राप्त करना ही बुद्धि की सर्वश्रेष्ठ वन्दना है।

"हे गौतम! मेरी बहन माया ने लोकहित के लिए ही तुम्हें पैदा किया था। दुःख, वृद्धावस्था, व्याधि, मृत्यु और शोक के रुदन को तुमने हरण कर लिया है।"

५

बुद्ध-पत्नी

यशोधरा (गोपा)

भगवान् बुद्धदेव की यशःकीर्त्ति तो दिग्‌दिगन्त है, उनके सर्वत्याग की बात सब जानते हैं, परन्तु उनकी पत्नी यशोधरा का मूक त्याग भी उनके उस सर्वत्याग से किसी दर्जे कम नहीं है। रामायण की उर्मिला हमारे सामने आत्म-त्याग का एक बहुत ऊँचा आदर्श उपस्थित करती है, जिसने पति लक्ष्मण के निर्दिष्ट भ्रातृ-सेवा के मार्ग में बाधक न बनने के लिए चौदह वर्ष के भारी पति-वियोग को बिना किसी ननु-नच के शान्तिपूर्वक स्वीकार किया; परन्तु यशोधरा का मूक त्याग तो उससे भी ज़्यादा ज़बरदस्त और सहानुभूति का प्रेरक है, जिसके सामने पति-वियोग की न केवल कोई निश्चित अवधि ही नहीं थी बल्कि जिसका पति संसार से नाता तोड़ते वक्त उसको सूचना देकर भी नहीं गया था। यही नहीं, दीर्घकाल के बाद जब वीतरागी भगवान्—नहीं-नहीं, यशोधरा के पति गौतम—बुद्ध-रूप में उसके सामने आये, तो उनके बाद अपने सबसे बड़े आधार अपने प्यारे पुत्र राहुल का भी दान करके महीयसी यशोधरा ने अपने ऐसे महात्याग का परिचय दिया जिसकी मिसाल मिलना मुश्किल है।

यशोधरा के बारे में विस्तार से जानने से पहले हमें उनके पति बुद्धदेव के बारे में कुछ जान लेना आवश्यक है। कपिलवस्तु के शाक्यवंशी महाराज शुद्धोदन के पुत्र-रूप में भगवान् बुद्धदेव का अवतार हुआ था। उनकी जननी मायादेवी उन्हें जन्म देकर ही मानों कृतकृत्य होकर मुक्ति पा गईं। शुद्धोदन की दूसरी रानी और मायादेवी की छोटी बहन नन्द-जननी महाप्रजावती गौतमी ने उनका पालन-पोषण किया। इसीलिए उन्हें गौतम भी कहते हैं, हालांकि उनका नाम वस्तुतः सिद्धार्थ रक्खा गया था। बुद्ध नाम उनके सिद्धि-लाभ का द्योतक है और सुगत, तथागत, अमिताभ आदि और भी अनेक नामों से आज वह पुकारे जाते हैं।

सिद्धार्थ में बाल्यकाल से ही वीतराग के लक्षण प्रकट होने लगे थे। जन्मोपरान्त एक सिद्ध पुरुष ने उसे देखकर कहा था कि यह बालक किसी समय संन्यास धारणकर प्रसिद्ध महात्मा बनेगा। शुद्धोदन बहुत समय से अपुत्र था, बड़ी आशा-प्रतीक्षा के बाद वृद्धा-वस्था में जाकर कहीं यह पुत्र हुआ था; अतः इस बात ने उसे बड़ी चिन्ता में डाल दिया। पुत्र को वैराग्य से दूर रखने के लिए आखिर उसने एक तरकीब सोची। पुत्र जैसे-जैसे बड़ा होने लगा, तरह-तरह के भोग-विलास के सामान उसके लिए जुटाये जाने लगे। किसी राग-रंग और आमोद-प्रमोद की कमी न थी। पिता का प्रबन्ध था कि जो कुछ स्वस्थ, शोभन और सजीव हो उसी पर पुत्र की दृष्टि पड़े। परन्तु बुद्धदेव तो बचपन से ही भावुक और विचार शील थे, इसलिए उन्हें वह सब भोगविलास नहीं रुचा। उस आमोद-प्रमोद

से दूर हटकर, एकान्त चिन्तन में ही वह अपना बहुत-कुछ समय बिताते थे।

राग-रंग और उत्सव-समारोह तो होते ही रहते थे। एक बार, एक उत्सव में, भिन्न-भिन्न राजकुमारियों को आमन्त्रित करके राजकुमार सिद्धार्थ के हाथों उन्हें बहुमूल्य उपहार देने की व्यवस्था की गई। अनेक राजकुमारियाँ इस उत्सव में भाग लेने आईं और राजकुमार के हाथों उपहार ले-लेकर चली गईं। कलिदेश के राजा दण्डपाणि की राजकन्या गोपा भी उत्सव में आई, परन्तु उसकी बारी आई तबतक उपहार की चीज़ें समाप्त हो चुकी थीं। इसलिए औरों की तरह तुरन्त ही उपहार लेकर वह बिदा न हो सकी। फलतः सिद्धार्थ की उसपर नज़र पड़ी। सिद्धार्थ और गोपा की चार आँखें हुईं। दोनों ही की आँखें एक-दूसरे पर ठहर गईं, और थोड़ी देर तक दोनों ही मूर्तिवत् एक-दूसरे को देखते रहे। कुछ देर बाद सहसा गोपा चौंकी, शर्म के मारे उसकी आँखें नीची हो गईं और लज्जावनत होकर उसने कहा—"कुमार! मैं भी निमंत्रित होकर आई हूँ, क्या मुझे उपहार नहीं मिलेगा?"

"क्यों नहीं? तुम्हारा अपमान करने के लिए तुम्हें थोड़े ही बुलाया गया है।" गौतम ने कहा—"लो, सुवर्ण से परिपूर्ण यह अशोक-पात्र तुम्हें उपहार में देता हूँ; और इसके साथ-साथ अपनी अंगुली की अँगूठी भी।"

यह कहकर राजकुमार अपनी अंगुली से अँगूठी निकालने लगा, परन्तु गोपा ने उसे रोककर कहा—"न, आपका अलंकार मुझे नहीं चाहिए। यह उपहार ही मेरे लिए काफ़ी है।"

उपहार लेकर गोपा धीरे-धीरे वहां से चली गई, परन्तु अपनी छाप वह गौतम पर छोड़ गई। गोपा का रूप देखकर और बातचीत से उसकी चतुराई का परिचय पाकर वह उस पर मुग्ध हो गया; उधर गोपा भी मन-ही-मन उसके प्रति आत्म-समर्पण कर अपने घर गई।

महाराज शुद्धोदन को जब राजकुमार के गोपा पर आकर्षित होने का पता लगा, तो उन्होंने महाराज दण्डपाणि के पास सिद्धार्थ-गोपा के विवाह की मँगनी भेजी; परन्तु राजकुमार सिद्धार्थ क्षत्रियोचित शौर्य, पराक्रम आदि गुणों की अपेक्षा अपनी विचार शीलता और तत्त्व-चिन्तन के लिए ही विशेष प्रसिद्ध थे, इसलिए ऐसे राजकुमार को अपनी लड़की देने में महाराज दण्डपाणि को संकोच हुआ। सिद्धार्थ ने जब यह बात सुनी तो तरह-तरह के व्यायाम, खेल, हथियार चलाने आदि क्षत्रियोचित गुणों में उच्च शिक्षा प्राप्तकर अपनी दक्षता भलीभांति साबित कर दी। तब महाराज दण्डपाणि ने सहर्ष गोपा के साथ उनका विवाह कर दिया।

अपने इच्छानुकूल पति पाकर गोपा छाया की भाँति पति की अनुगामिनी बन गई। सुख-दुःख में वह सदा पति के साथ ही रहती। इस प्रकार दस वर्ष तक बड़े सुख में दोनों ने अपना सांसारिक जीवन-यापन किया। गोपा जैसी सुशीला पत्नी का प्रेम प्राप्तकर गौतम की सारी चिन्तायें दूर होगईं। दोनों ही आनन्द में विभोर हो अपने दिन बिताने लगे।

एक दिन गौतम सो रहा था, रात पूरी होने ही को थी, चन्द्रमा पश्चिम की ओर अस्त हो रहा था, पूर्व दिशा सूर्य की नवराशियों से

अरुणित होनेवाली थी, इतने में एक मर्मभेदी संगीत सुनाई दिया। कोई गवैया एक गीत गा रहा था, जिसका आशय था—'इस संसार में अमर कोई नहीं है; मृत्यु सबके साथ लगी हुई है।' इस मर्मभेदी संगीत को सुनते ही गौतम को निद्रा भंग हो गई और वह गहरे विचार में पड़ गया। अब तो इसी दिशा में—संसार की अनित्यता की ओर—उसका विचार-प्रवाह हो गया। यहाँ तक कि शिकार को जाते हुए भी यह विचार उठता कि 'स्वच्छन्द फिरनेवाले इस निर्दोष पशु को मारने का मुझे क्या हक़ है ?' यह सोच मारने के लिए चढ़ाया हुआ धनुष वापस खींचकर घर लौट आता। कितने ही किसान अपने स्वार्थ से प्रेरित हो बैलों को मारते, या उनसे इतना अधिक काम लेते कि जिससे उन बेचारों की कमर पर घाव पड़ जाते। यह देख गौतम को बड़ी दया आती। एक दिन सारथी के साथ रथ में जाते समय, एक वृद्ध को उसने देखा। इस पर उसे जिज्ञासा हुई कि मनुष्य बुड्ढा क्यों होता है, वृद्धावस्था में क्या दुख है, परवशता कितनी बढ़ जाती है ? यह सब सारथी से पूछकर यह भी उसने जान लिया कि मेरा सुन्दर और सबल शरीर भी एक दिन इसी प्रकार जीर्ण होगा। इसके बाद एक आदमी की लाश ले जाते हुए लोगों को उसने देखा। उस पर से उसे मनुष्य-शरीर की नश्वरता और क्षणभंगुरता का ज्ञान हुआ। फिर एक बार एक रोगी को रोग से तड़पते हुए देखा। उसके बारे में पूछ-ताछ करने से मालूम पड़ा कि कुछ ही समय पूर्व वह बिलकुल ठीक था, पर अब इसे रोग लग गया है, उससे यह पीड़ित है; और तब उसने जान लिया कि रोग भी शरीर का एक धर्म है।

ज्यों-ज्यों गौतम ऐसे दृश्य देखता गया, उसके लिए आराम से सोना दूभर हो गया। गहरे विचारों में उसका मन डावांडोल होने लगा। एक दिन घूमने जाते हुए एक संन्यासी दृष्टिगोचर हुआ। गौतम उससे मिला और उसका क्या उद्देश है, किस कारण से उसने संन्यास-व्रत लिया है, आदि बातें मालूम करके मन-ही-मन उसने कुछ निश्चय किया।

विवाह के दस वर्ष बाद गोपा गर्भवती हुई। गौतम के पिता महाराज शुद्धोदन ने सोचा, प्रेम की इस दृढ़ शृंखला से सिद्धार्थ संसार से बँध जायगा और तत्त्वज्ञान की बातें सोचनी छोड़ देगा। परन्तु मनुष्य का सोचा कब पूरा हुआ है ?

गर्भावस्था में एक रात कुछ स्वप्न देखकर गोपा चौंक पड़ी। भयभीत होकर उसने स्वामी को जगाया। गौतम ने जागकर उसे बहुतेरा आश्वासन दिया, परन्तु उसकी घबराहट शान्त न हुई। कुछ देर बाद जब किसी प्रकार उसकी घबराहट कुछ कम हुई तब उसने अपने स्वप्नों का हाल कहा। उसने कहा—"पहला स्वप्न तो मुझे यह दीखा कि एक सफ़ेद साँड़ है जिसके सींग फैले हुए हैं और मस्तक में चमकती हुई एक मणि है। झूमता हुआ वह नगर के दरवाज़े की ओर जा रहा था। किसीके रोके वह रुकता नहीं था। इतने में इन्द्र-मंदिर से यह ध्वनि सुनाई दी, कि 'तुम यदि इसे नहीं रोकोगे तो नगर की कीर्ति चली जायगी।' परन्तु इतने पर भी कोई उसे रोक नहीं सका। तब रोती हुई मैं उस साँड़ के गले से लिपट गई और उसे रोकने लगी। लोगों से मैंने नगर के द्वार बन्द कर देने के लिए कहा। परन्तु

साँड़ तो न रुका सो नहीं ही रुका। मेरे हाथ से वह बहुत आसानी से निकल गया और दरवाज़े के किवाड़ तोड़ द्वारपालों को पैरों से रौंदता हुआ चला गया।

"दूसरा स्वप्न मैंने यह देखा कि चार दिव्य पुरुषों ने, जो सुमेरु पर्वत पर रहनेवाले दिक्पाल जैसे मालूम पड़ते थे, असंख्य गणों के साथ आकाश से तेज़ी के साथ आकर नगर में प्रवेश किया। उनके साथ इन्द्रपुरी के प्रवेश-द्वार का सुनहरी झण्डा टूट कर नीचे गिरा और उस स्थान पर एक तेजस्वी पताका प्रकट हुई। इस पताका में रुपहरी डोर से सिले हुए माणक गुंथे हुए थे, जिनकी किरणों से अपूर्व और अर्थपूर्ण शब्द बने, जिनको देखकर सब जीवित प्राणी हर्ष से उत्फुल्ल हो गये। सूर्योदय के साथ पूर्वी हवा चलने से वह पताका लहराने लगी, जिससे सबको वे शब्द स्पष्ट हो गये और अद्भुत पुष्पों की वृष्टि हुई।

"इसके उपरान्त, स्वामी! मुझे एक स्वप्न और भी भयानक दीखा। मैं आपके पार्श्व में आने लगी तो आप नहीं थे; आपका खाली तकिया और झगा ही वहाँ थे। यह देख स्वप्न में ही मैं उठ खड़ी हुई—और मेरी छाती के नीचे दबी हुई आपकी माला सर्प बन गई। पैरों के बिछुए निकल पड़े, हाथ के सुवर्ण-कंकण टूटकर गिर गये, केश में गुथे हुए जुही के फूल रजकण हो गये और मेरी विलास-शय्या मानों ज़मीन में धँस गई। इसके बाद दूर, बहुत दूर, उसी पहले के सफ़ेद साँड़ की आवाज़ सुनाई दी और वही ज़री का झण्डा फ़हराया। 'आन पहुँचा है वह वक्त' की आवाज़ दुबारा सुनाई दी, जिसको सुनते ही मैं चौंककर उठ पड़ी।"

यह कहकर गोपा चोधार रोने लगी। गौतम ने तरह-तरह से उसको आश्वासन दिया और कहा—"प्रिये! मैं अनजान जीवों के दुःख से दुःखी होता हूँ, उनके लिए मेरी आत्मा तड़पती है, तो फिर तुम तो मेरी प्रियतमा हो। सारी दुनिया में चक्कर लगाकर आख़िर तुम्हारे ऊपर ही तो मेरे सब विचार केन्द्रित होते हैं। जिन तीन बातों की मैं तलाश में हूँ, वे सब मनुष्यों के लिए हैं यह सच है, परन्तु उन सबसे अधिक तुम्हारे लिए हैं।"

इस प्रकार पति का आश्वासन पा पतिप्राणा यशोधरा सो गई, परन्तु स्वप्न की भीति उसके मन से बिलकुल दूर न हुई। नींद में भी रह-रहकर स्वप्न के विचार उठते और 'आन पहुँचा है वह वक्त' 'आन पहुँचा है वह वक्त' कहकर वह चिल्ला उठती।

गोपा को आश्वासन दे सिद्धार्थ खुद भी सो तो गया, पर मन में वह समझ गया कि पत्नी के स्वप्न हैं सही। क्योंकि संसार के प्रति उसकी आसक्ति सचमुच कम होती जाती थी और जगत् का उद्धार करने की इच्छा प्रबल हो रही थी।

राजकुमार के मन में इस प्रकार क्रान्ति हो रही थी, इसी बीच यशोधरा ने एक सुन्दर पुत्र प्रसव किया। वह छोटा ही था कि सिद्धार्थ को कुछ ऐसे अनुभव हुए जिनसे संसार की नश्वरता की बात उसके मन पर और बैठ गई। एक रात यशोधरा राहुल को छाती से चिपकाये सो रही थी कि सिद्धार्थ को सहसा संसार की नश्वरता के विचारों ने घेर लिया और उसने गृह-त्याग का निश्चय कर लिया। पुत्र राहुल और प्रिय गोपा का स्नेह मोह-रूप में सामने आया। सिद्धार्थ कई बार

ठिठका। एक बार सोते हुए पुत्र का आखिरी स्नेह-चुम्बन करने को भी व्याकुल हुआ, परन्तु उससे यशोधरा के जाग पड़ने का भय था और तब उसके प्रस्थान में एक बाधा और उपस्थित हो सकती थी, इसलिए, उसने अपनेको दृढ़ किया। बड़ी दृढ़ता के साथ आखिर उसने कहा:—

"रख अब अपना यह स्वप्न-जाल,
निष्फल मेरे ऊपर न डाल।
मैं जागरूक हूँ ले सम्हाल—
निज राज-पाट, धन, धरणि, धाम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम-राम!"

और यह कहकर वह उस 'क्षणभंगुर भव' से 'अमरता की खोज में' चल दिया, कि—

"हे राम, तुम्हारा वंशजात
सिद्धार्थ, तुम्हारी भांति, तात,
घर छोड़ चला यह आज रात;
आशीष उसे दो, लो प्रणाम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम-राम!"

बौद्ध धर्म में इस प्रसंग का बड़ा महत्व है और इसे 'महाभिनिष्क्रमण' कहा गया है। इसीके बाद सिद्धार्थ वीतरागी भगवान् बुद्ध के रूप में संसार के समक्ष प्रकट होते हैं, परन्तु गोपा का महत्व भी तो मुख्यतः इसके बाद ही प्रकट होता है।

सुबह होते ही, बात की बात में, सिद्धार्थ के गृह-त्याग की बात सर्वत्र फैल गई। राजमहल और नगरनिवासियों में हाहाकार मच गया। गोपा का तो पूछना ही क्या! जैसे ही वह जागी, स्वामी को

अपने पास न देख उसका माथा ठनका। सिद्धार्थ के हृदय-तल में जो गहरी उथल-पुथल मच रही थी उसका तो उसे पता था ही, अतः उसे निर्णय करते देर न लगी कि राजकुमार गृह त्यागकर अमरत्व की खोज में वनवासी हुए हैं। यह भी वह जानती थी कि एक-न-एक दिन यही होना था, और इस बात से भी वह अनजान न थी कि जगत के उद्धार के लिए ही सिद्धार्थ ने ऐसा किया है। फिर भी, नरी-हृदय का आवेग न रुक सका।

"आली, वही बात हुई, भय जिसका था मुझे,"

यह कहते हुए अपनी सखी से उसने कहा :—

"सिद्धि-हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात,
पर चोरी-चोरी गये, यही बड़ा व्याघात।

× × ×

मुझको बहुत उन्होंने माना,
फिर भी क्या पूरा पहचाना?
मैंने मुख्य उसीको जाना,
जो वे मन में लाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

फिर पति-प्राणा स्त्री की भाँति उसने कहा :—

"जायँ, सिद्धि पावें वे सुख से,
दुखी न हों इस जन के दुख से,
उपालम्भ दूँ मैं किस मुख से?—
आज अधिक वे भाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।"

गये, लौट भी वे आवेंगे,
कुछ अपूर्व-अनुपम लावेंगे,
रोते प्राण उन्हें पावेंग,
पर क्या गाते-गाते ?
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।"

गोद में बालक था, इसलिए गृह-त्याग तो उसके लिए संभव न था; अतः घर में रहते हुए ही वह मानों संन्यासिनी बन गई।

"अब कठोर हो वज्रादपि ओ कुसुमादपि सुकुमारी !
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी बारी।
× × ×
यदि मैं पतिव्रता तो मुझको कौन भार-भय भारी ?
आर्य पुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।
× × ×
नयन वृथा व्याकुल न हो, नई नहीं यह रीति;
रखते हो तुम प्रीति, तो धारण करो प्रतीति।"

यह सोचकर उसने कहाः—

"जाओ, मेरे सिर के वाल !
आलि, कर्त्तरी ला, मैंने क्या पाले काले व्याल ?
उलझें यहां न ये आपस में सुलझे वे व्रत-पाल,
डँसे न हाय ! मुझे एड़ी तक विस्तृत ये विकराल।
कसें न और मुझे अब आकर हेमहीर, मणिमाल,
चार चूड़ियां ही हाथों में पड़ी रहें चिर-काल।
मेरी मलिन गूदड़ी में भी है राहुल-सा लाल !
क्या है अंजन-अंगराग, जब मिली विभूति विशाल?

बस, सिन्दूर-बिन्दु से मेरा जगा रहे यह भाल,
वह जलता अंगार जलादे उनका सब जंजाल।"

पुत्र-विछोह से दुःखी माता-पिता को यह देख और भी सन्ताप हुआ। ससुर ने बहुत-कुछ समझाया-बुझाया, सास ने बहुतेरा चिन्ता-कलाप किया, परन्तु गोपा का मन विचलित नहीं हुआ। उसने संन्यासिनी के सादा वेश एवं कठोर व्रत का परित्याग नहीं ही किया। सास से उसने कहा:—

"माताजी! धर्मशील होते हुए भी आप मुझे अधर्म की ओर क्यों प्रेरित करना चाहती हैं? जिसका पति सन्यासी हो गया हो उस स्त्री को भला वस्त्राभूषण और भोग-विलास से क्या सरोकार? स्त्री का सर्वस्व तो पति ही है, वही उसका सुख, वही उसका भोग-विलास, और वही उसका वस्त्राभूषण है। स्वामी जब घर-बार छोड़कर संन्यासी हो गये, तो उनके साथ मेरा सारा सुख भी समाप्त हो गया। गृहस्थाश्रम का सुख गया, भोग-विलास गये, वस्त्राभूषणों का आडम्बर करने का अब कोई काम नहीं रहा। अब तो मानों मेरा धर्म ही बदल गया है।

"मेरे स्वामी जब राजपुत्र थे तब में राजवधू की तरह उनकी साथिन और सहधर्मिणी थी। आज वह संन्यासी हो गये तो में भी संन्यासिनी बनूँगी। पति की अनुगामिनी होना ही स्त्री का जीवन-व्रत है। मैंने इस व्रत को अपनाया है तो, माताजी, आप कृपाकर मुझे ऐसा करने से न रोकें। फिर माँ! जब इस बात को तो आप सहन कर लेती हो कि आपका एकमात्र पुत्र संन्यासी होकर जंगल में

कठोर तपस्या कर रहा है, तो बहू को घर में बैठकर संन्यासिनी-व्रत पालन करना आपसे क्यों नहीं सहा जाता ?"

आखिर सास को चुप हो जाना पड़ा और गोपा पति की कल्याण-कामना करती हुई कठोर संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगी हाँ यह विश्वास उसने बराबर बनाये रक्खाः—

"भक्त नहीं जाते कहीं, आते हैं भगवान;
यशोधरा के अर्थ है अब भी यह अभिमान।
× × ×
उन्हें समर्पित कर दिये यदि मैंने सब काम,
तो आवेंगे एक दिन, निश्चय मेरे राम।"

वर्षों इसी प्रकार बीत गये। यशोधरा के मन में इसबीच क्या-क्या विचार नहीं आये होंगे, नित्यप्रति वृद्धिगत पुत्र राहुल की नानाविध जिज्ञासाओं ने रह-रह कर उसके मन में कितनी हिलोरें मारी होंगी, परन्तु वह अपने निश्चय और विश्वास से विचलित नहीं हुई। निराशाओं के अनेक झोंके आये। महाराज शुद्धोदन ने पुत्र की बहुतेरी खोज कराई, फिर भी कोई पता नहीं लगा। लेकिन इतने पर भी यशोधरा का यह विश्वास नहीं डिगा, कि—

"भक्त नहीं जाते कहीं, आते हैं भगवान;
तो, आवेंगे एक दिन, निश्चय मेरे राम।"

गौतम ने छः वर्ष तक राजगृह के निकटवर्ती वन में और फिर गया के गम्भीर अरण्य में तपस्या की। आखिर गया के निकटवर्ती एक वट वृक्ष की छायातले ध्यान करते हुए उसे अन्तर्ज्ञान प्राप्त हुआ।

अर्थात् जिस ज्ञान की वह खोज में था वह उसे मिल गया। उसके हृदय में सच्चा बोध हुआ, जिससे वह बुद्ध बन गया। इस समय ३५ वर्ष की उसकी उम्र थी। बुद्ध होकर अब उसने भिक्षु के वेश में सर्वत्र उस ज्ञान का प्रचार करना शुरू कर दिया, जो कि उसे वहाँ पर प्राप्त हुआ था।

इसके कुछ समय बाद अपने धर्म का प्रचार करते हुए बुद्धदेव एक दिन कपिल-वस्तु पहुँचे। विरहिणी यशोधरा बैठी हुई मन-ही-मन सोच रही थी कि—

"अब भी समय नहीं आया ?
कबतक करे प्रतीक्षा काया, जिये कहां तक जाया ?
होती है मुझको यह शंका, क्षमा करो हे नाथ,
समय तुम्हारे साथ नहीं क्या, तुम्हीं समय के साथ?
कहां योग मन भाया ?
अब भी समय नहीं आया ?"

इतनेमें एक दासी ने आकर खबर सुनाई—

"मिल गया, मिल गया, मिल गया सहसा
उनका अनुसन्धान आज, जिनके बिना यहां
खान-पान नीरस था, सोना बुरा स्वप्न था,
रोना ही रहा था हाय ! जीवन मरण था।"

उसने बताया—

"कुछ व्यवसायी यहां आये हैं मगध से।
वे ही यह वृत्त लाये, लोचनों के ही नहीं,
श्रवणों के लाभ भी उन्होंने वहां पाये हैं।

× × ×

वर्षो तक प्रभु ने तपस्या कर अन्त में
सारे विघ्न पार किये × × ×
× × ×
अचल समाधि रही बाधायें बिला गई;
देवि, वह दिव्य दृष्टि पाकर ही वे उठे,
जिसमें समस्त लोक और तीनों काल भी
दर्पण में जैसे, उन्हें दीख पड़े, सृष्टि के
सारे भेद खुल गये, चेतन का, जड़ का,
कोई भी प्रकार—व्यवहार नहीं जा सका,
दु:ख का निदान और उसकी चिकित्सा भी
ज्ञात हुई। जन्म तथा मृत्यु के रहस्य को
जानकर देव स्वयं जीवन्मुक्त हो गये।
और, धर्म चक्र के प्रवर्त्तन के साथ ही,
दूसरों को भी वे मुक्ति-मार्ग में लगा रहे।"

यशोधरा ने कहा—

"यदि यह सत्य है तो मैं भी कृतकृत्य हूं,
आज सुख से भी निज दु:ख मुझे प्यारा है।"

कपिल वस्तु के सारे नर-नारी इस खबर से आनन्द से पुलकित हो उठे। उत्सव की तैयारियाँ होने लगीं। महाराज शुद्धोदन का पुत्र-स्नेह भी बाँसों उछल पड़ा। यशोधरा से उन्होंने कहा—

"उसने अपूर्व योग पाया है।
गोपा और गौतम का नाम भी जगत् में
गौरी और शंकर सा गण्य तथा गेय हो!

अब क्यों विलम्ब किया जाय बेटी, शीघ्र तू
प्रस्तुत हो । यह रहा मगध, समीप ही,
उसके लिए तो हम जगती के पार भी
जाने को उपस्थित हैं और उसे पाने को
जीवन भी देने को समुद्यत हैं—सर्वदा ।"

किन्तु यशोधरा तो वर्षों से इस विश्वास के सहारे ही जी रही थी कि—

उन्हें समर्पित कर दिये यदि मैंने सब काम,
तो आवेंगे एक दिन निश्चय मेरे राम ।"

× × ×

'भक्त नहीं जाते कहीं, आते हैं भगवान;
यशोधरा के अर्थ है अब भी यह अभिमान ।'

अतः उसने वहाँ जाने से इनकार कर दिया। महाराज शुद्धोदन और महारानी प्रजावती गौतमी को आश्चर्य हुआ और उन्होंने बहुतेरा समझाया, परन्तु यशोधरा अपने निश्चय से विचलित नहीं हुई । उसे मूर्छा सी आने लगी तब महाराज शुद्धोदन बोले—

'बेटी, उठ, मैं भी तुझे छोड़ नहीं जाऊँगा ।
तेरे अश्रु लेकर ही मुक्ति-मुक्ता छोड़ूंगा ।
तेरे अर्थ ही तो मुझे उसकी अपेक्षा है ।
गोपा बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको !"

इसके बाद महाराज शुद्धोदन ने बुद्धदेव के बुलाने के लिए दूत भेजे । परन्तु जो-जो उन्हें लेने गये, वे सब उनके दर्शन और उपदेश से स्वयं संसार-त्यागी होकर उनके संघ में दीक्षित हो गये। अन्त में

मंत्री-पुत्र को भेजा गया, जो सिद्धार्थ का बाल्य-सखा था। वह भी भगवान् के संघ में प्रविष्ट हो गया; परन्तु प्रतिज्ञा कर आया था, इसलिए भगवान् को कपिलवस्तु चलने का आग्रह करना न भूला।

भगवान् कपिलवस्तु में आये। सर्वत्र उनके आगमन का समाचार फैल गया और झुण्ड-के-झुण्ड नर-नारी उनके दर्शनों को उमड़ने लगे। अपने राजपुत्र को उन्होंने भिक्षु के वेश में रास्ता-चलते भीख माँगते और अपना धर्मोपदेश करते देखा। यशोधरा ने भी यह दृश्य देखा। जिस राजकुमार के शरीर पर हज़ारों रत्न-जवाहरात जगमगाते थे, जिसकी नित नई पोशाकें सिलती रहती थीं, संख्यातीत दास-दासी रात-दिन जिस की सेवा में रत रहते थे, और जिसका सुन्दर रूप देखकर वह स्वयं मुग्ध हो गई थी, उसीको आज सिर मुण्डाये ग़रीब भिखमंगे के रूप में देखकर यशोधरा अपने हृदयावेग को न रोक सकी। परन्तु आख़िर वह सोचने लगी—"अरे! मैं रोती क्यों हूँ? क्या मुझे यह नहीं दीखता कि उनके चरण-कमलों से नगर जगमगा उठा है, उनके दर्शनों से नगरवासियों के चेहरों पर एक दिव्य-प्रकाश दृष्टिगोचर हो रहा है वेश-भूषा हीन होने पर भी उनकी मूर्त्ति अतुल जोतिर्मय है; उसके सामने राजा के तेज का क्या मूल्य? आज उन्होंने भोग-विलास छोड़ दिया है, सुख-दुःख से वह अतीत हैं, राज-वेश और भिक्षु-वेश का उनके मन में आज कोई भेदभाव नहीं है; राजमहल के राजभोग और ग़रीब भिखमंगे की झोंपड़ी का सूखा साग-पात आज उनके लिए समान हैं। ओह, आज वह कितने महान्, कितने उच्च हैं! मुझे तो आज अपने स्वामी के

महत्व से अपनेको गौरवान्वित समझना चाहिए, न कि इस प्रकार मोहान्ध स्त्री की तरह रोना चाहिए ? यदि मुझमें इतना भी महत्व न हो तो फिर अपने को ऐसे महापुरुष की स्त्री समझना व्यर्थ है।"

इसके बाद निमंत्रित होकर बुद्धदेव राजप्रासाद में आये—परन्तु वहाँ भी इस डर से यशोधरा उनके दर्शनों को सन्मुख न गई, कि कहीं इससे उनके संन्यास-व्रत में कोई बाधा न पड़े। आखिर भगवान ही उसके निकट गये। उन्होंने कहा :—

"मानिनी, मान तजो लो, रही तुम्हारी बान !
दानिनि, आया स्वयं द्वार पर यह, वह तत्रभवान्।
किसकी भिक्षा न लूं कहो मैं ? मुझको सभी समान,
अपनाने के योग्य वही तो जो हैं आर्त्त-अजान।

× × ×

माना तव दुर्बल था, तुमको मैं तज गया निदान,
किन्तु शुभे, परिणाम भला ही हुआ, सुधा-संधान।
यदि मैंने निर्दयता की तो, क्षमा करो प्रिय जान,
मैत्री-करुणा-पूर्ण आज मैं शुद्ध-बुद्ध भगवान।"

यशोधरा के मानो भाग्य खुल गये। युग-युग की उसकी तपस्यायें सफल हो गईं। हर्षोल्लास में उसने कहा—

"पधारो, भव भव के भगवान !
रख ली मेरी लज्जा तुमने, आओ अत्रभवान !

× × ×

मेरे स्वप्न आज ये जागे,
अब वे उपालम्भ क्यों भागे ?

पाकर भी अपना धन आगे,
भूली-सी मैं भान ।
पधारो, भव भव के भगवान!"

और यह कहते, हुए अपने पुत्र को उनके आगे कर दिया, कि—

"कृतकृत्य हुई गोपा,
पाया यह योग, भोग, अब जा तू,
आ राहुल, बढ़ बेटा,
पूज्य पिता से परम्परा पा तू ।"

इस प्रकार इस समय भी इस महीयसी ने भगवान को राहुल का दान देकर अपने महात्याग का परिचय दिया और कहाः—

"तुम भिक्षुक बन कर आये थे, गोपा क्या देती स्वामी ?
था अनुरूप एक राहुल ही, रहे सदा यह अनुगामी ।
मेरे दुख में भरा विश्वसुख, क्यों न भरूँ, फिर मैं हामी ।
बुद्धं शरणं, धर्मं शरणं, संघं शरणं गच्छामि ॥"

इसके कई वर्ष बाद, महाराज शुद्धोदन की मृत्यु के समय, भगवान् बुद्धदेव एकबार फिर कपिलवस्तु में आये। उस समय यशोधरा तथा वहाँ की अन्य कई स्त्रियों ने बुद्धदेव से संन्यास-ग्रहण करने की प्रार्थना की। तब उन्हें दीक्षा देकर बुद्धदेव ने भिक्षुणी-सम्प्रदाय की स्थापना की, और यशोधरा उसकी नेत्री बनी।

भिक्षुणी-सम्प्रदाय की नेत्री के रूप में अनेक स्त्रियों को सेवा और परोपकार की ओर प्रेरित करके इसने संसार को बहुत लाभ पहुँचाया था। संघ में प्रविष्ट हुए बाद आत्मोन्नति पर ही अपना समस्त लक्ष्य रखकर अन्य भिक्षुणियों की अपेक्षा अधिक ध्यानपूर्वक इसने भिक्षुणी-

संघ के अनुशासन का पालन किया और अर्हन्-पद ही प्राप्त नहीं किया बल्कि अभिज्ञाओं में भी प्रवीणता प्राप्त की। भिक्षुणी-संघ के पदवीदान-समारोह में भगवान् बुद्ध ने महाभिज्ञा प्राप्त करनेवाली स्त्रियों में यशोधरा को अग्रस्थान दिया था। यह ध्यान रखने की बात है कि महाभिज्ञा प्राप्त करनेवाले भिक्षु तो हुए हैं, पर स्त्रियों में यह सिद्धि प्राप्त करनेवाली अकेली यशोधरा ही थी। दिव्य शक्ति को अभिज्ञा करते हैं। भाँति-भाँति के चमत्कार करना, दिव्यनाद सुनना, दूसरों के मन की बात जान लेना, पूर्वजन्म का स्मरण होना, दिव्य चक्षु पालेना और विकारों का क्षय होना अभिज्ञा कहलाता है; और महाभिज्ञा उससे भी ऊँचा दर्जा है, जिसे प्राप्त करने से असंख्य पूर्व-जन्मों का ज्ञान प्राप्त होता है।

इस प्रकार अपने पति के त्याग में त्यागी, गौरव में गौरवान्वित, धर्म-कर्म में सहकारिणी, पुण्य तेज की महिमा से महिमामय बनकर जगत् के सर्वश्रेष्ठ महासाधक की सहधर्मिणी यशोधरा न सिर्फ़ कहने के लिए वरन सचमुच अपने पति की सहधर्मिणी और सहचारिणी हो गई है।

६

दुःख-विस्मरण का उपाय पानेवाली

किसा गोतमी

महाप्रजापति गोतमी तथा अन्य गोतमियों से भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए इसे किसा अथवा कृष्ण गोतमी कहा गया है। यह नाम पड़ने का एक कारण यह भी है कि यह कृशाङ्ग (दुबली-पतली) और सुकुमार थी। कहते हैं कि पूर्व-जन्म में यह पद्मोत्तर बुद्ध के समय एक क्षत्रिय सामन्त के वंश में पैदा हुई थी। भगवान् को एक बार सादे वस्त्र पहननेवाली संसार त्यागी भिक्षुणियों की अत्यन्त प्रशंसा करते हुए सुनकर इसने अपने मन में संकल्प कर लिया था कि मैं भी किसी दिन भिक्षुणी-पद प्राप्त करूँगी। उस जन्म में तो इसकी वह अभिलाषा पूर्ण नहीं हुई, परन्तु गौतम बुद्ध के समय श्रावस्ती के एक ग़रीब घर में इसका जन्म हुआ।

ग़रीब की लड़की होने के कारण, ससुराल में इसकी कोई कदर नहीं हुई। सब कोई अनादर की नज़र से देखते थे। आख़िर उसके एक पुत्र हुआ, तब इसकी कुछ पूछ हुई; परन्तु ग़रीब के भाग्य उलटे ही होते हैं। माता के सुख-सौभाग्य का एकमात्र आधार वह बालक एक दिन खेलने गया था, वहाँ उसे साँप ने काट लिया; और वह

निर्दोष हँसमुख बालक मर गया। अब तो बेचारी गोतमी के सुख का सूर्य ही अस्त हो गया उसे विश्वास हो गया कि संसार फिर मेरे लिए दुःखमय हो गया है। फलतः पुत्र की मृत्यु से उसके शोक का पार न रहा।

शोकावेग से वह पागल-सी हो गई और मरे हुए पुत्र को गोद में लेकर, मृत-संजीवनी-जैसी किसी औषधि की तलाश में, घर-घर फिरने लगी।

बुद्ध भगवान् इस समय अपने शिष्यों के साथ धर्म-प्रचार के लिए घूम रहे थे। गोमती ने उन्हें देखा और उन्हें इतर मनुष्यों से विशिष्ट मानकर, वह उनके चरणों में गिर पड़ी। रो-रोकर अपना दुःख उसने भगवान् से निवेदन किया और उससे त्राण पाने के लिए वह भगवान् के निहोरे खाने लगी। बुद्ध ने बहुतेरा आश्वासन देना चाहा, पर पुत्र-वियोग में विह्वल माता पर उसका कोई असर न पड़ा। आखिर बुद्ध ने कहा—"अच्छा, कहीं से यदि तू एक तोला राई ले आये तो मैं तेरे पुत्र को ज़िन्दा कर दूँगा। परन्तु, यह ध्यान रहे कि राई ऐसे ही किसी घर से लाई जाय, जहाँ कोई मरा न हो।"

भोली गोतमी भगवान् के इस आध्यात्मिक रहस्य को न समझ सकी और घर-घर राई की भीख माँगने गई। उसके हाल पर तरस खा राई देने को तो अनेक तैयार हुए, परन्तु ऐसा घर कोई न मिला कि जहाँ कोई भी न मरा हो। ज्यों ही इस बात को वह छेड़ती तो कहीं पिता के मरने की बात सुनाई देती, कहीं माता की,

और कहीं असमय में ही बहन-भाई, बेटा-बेटी अथवा दास-दासी की मृत्यु का समाचार मिलता। फलतः सामने आई हुई राई उसे लौटानी पड़ती और वहाँ से वह दूसरे घर का रास्ता पकड़ती। आखिर हताश हो वह भगवान् के पास गई और कहा—"मैं तो सर्वत्र घूम आई। मुझे तो ऐसा कोई घर नहीं मिला जहाँ कोई-न-कोई मरा न हो। अब आप ही बताइए, मैं क्या करूँ और क्या नहीं।" तब भगवान् ने उसे उपदेश दिया और बताया कि संसार में उसीपर यह दुःख नहीं पड़ा है। जन्म-मरण तो संसार का नियम ही है; और जब अकेली उसी पर यह दुःख नहीं पड़ा, तो फिर कोई वजह नहीं कि वही क्यों इसके लिए अपने मन की शान्ति खोदे ?

बुद्धदेव के इस उपदेशामृत से किसा गोतमी के ज्ञान-चक्षु खुल गये। उसके हृदय का शोक मिट गया और शान्तिपूर्वक उसने अपने पुत्र का अग्नि-संस्कार कर दिया। पश्चात्गृहत्यागकर बुद्धदेव की शरण चली गई। उनसे धर्मज्ञान प्राप्त करने लगी और बाद में थेरी-पद प्राप्त करके अन्त में 'अर्हत' पद पर पहुँची।

थेरी-गाथा में २१३ से २२३ तक के श्लोक इसके बनाये हुए हैं। उनमें कहा गया है—

"साधु पुरुष के साथ मित्रता करना हितकर है; क्योंकि साधुओं की संगति से मूर्ख भी पंडित हो जाते हैं। साधुओं के संसर्ग से प्रज्ञा बढ़ती है, और पाप एवं दुःख का नाश होता है। दुःख का हेतु क्या है और दुःख का तिरोभाव कैसे होता है, इसकी शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। आर्यों के चार सत्य और अष्टाङ्ग-धर्म को प्राप्त करो।

"मानवों के सारथि कह गये हैं कि स्त्री का जीवन दुःखमय है। सौत का सहवास, और गर्भावस्था आदि के कारण स्त्री-जीवन अत्यन्त दुःखमय है। इसी दुःख में कितनी स्त्रियाँ गले में फाँसी लगाकर मर जाती हैं। कोई ज़हर खा लेती हैं। किसी-किसी के गर्भ का बालक भी माता के साथ ही मृत्यु को प्राप्त होता है।"

इसके बाद संक्षेप में अपनी आप-बीती सुनाकर कहा है—कुल-हीन और पति-हीन बनी हुई मैंने आख़िर अमृत-पद प्राप्त किया है। आर्यों के अष्टांग धर्म का चिन्तन करने से, धर्म के इस स्वच्छ आदर्श के कारण, आख़िर मुझे निर्वाण-पद प्राप्त हुआ है। मेरे हृदय पर दुःख-रूपी पत्थर का जो बोझा था वह हलका हो गया है। मेरी करनी सफल हुई है। और मुक्त चित्त होकर मैंने आज यह गाथा गाई है।"

किसा गोतमी आज किस दुनिया में है, यह तो भगवान् जानें; परन्तु इसके द्वारा संसार की अनित्यता का जो रूप हमारे सामने उपस्थित हुआ है, उससे आज भी हम शिक्षा ले सकते हैं। इस दृष्टान्त द्वारा भगवान् बुद्ध ने हमें बताया है कि कोई भी दुःख अकेले किसी एक ही पर नहीं पड़ता; और जब सभी पर एक-न-एक दिन वह दुःख पड़ता है तो फिर हमीं क्यों उससे दुःखी हों? इस रहस्य को हम हृदयंगम करलें तो संसार में विभिन्न दुःखों से जो हम दुःखी रहते हैं, उससे बहुत-कुछ मुक्ति मिल सकती है।

७

बुद्ध को आशीर्वाद देनेवाली

सुजाता

उरुवेला प्रदेश में सेनानी नाम का एक जमींदार था। वह जिस गाँव में रहता था, उसके नाम पर, उस गाँव का ही नाम सेनानी पड़ गया था। सुजाता उसकी प्रिय और रूपवती कन्या थी। सौन्दर्य और सद्‌गुणों का उसमें अपूर्व सम्मिश्रण था। सौन्दर्य में दूर-दूर तक वह अपना सानी नहीं रखती थी, फिर भी उसने कभी इसका अभिमान नहीं किया। विनय उसमें कूट-कूट कर भरा था। जहाँ सौन्दर्य से उसका शरीर दीप्तिमान् था, वहाँ अपनी मधुर और विनय-युक्त वाणी से भी वह सबको उत्फुल्ल करती थी। निर्दोष हास्य और उज्ज्वल हृदय की निर्मल शान्ति सदा उसके चेहरे पर झलकती थी। जो उसे देखता, उस समय के लिए तो अपनी चिन्ताओं को भूल ही जाता था।

जिस समय की यह बात है उस समय गायें मनुष्य की समृद्धि का मुख्य चिन्ह समझी जाती थीं। गौ-धन उस समय का मुख्य धन था। सेनानी के यहाँ भी बहुत-सी गायें थीं। सुजाता को उनसे बड़ा स्नेह था, और उनकी सार-सम्हाल भी वह खूब करती थी।

गाँव के निकट एक बट-वृक्ष था जिसमें वनदेवता के रहने की मान्यता प्रचलित थी। सुजाता की भी उसमें बड़ी श्रद्धा थी और उसने यह मानता की थी कि मुझे उपयुक्त वर मिलेगा तो पहला पुत्र होने पर मैं वन-देवता को दूध की खीर का नैवेद्य चढ़ाकर बड़ी भक्ति के साथ उनकी पूजा करूँगी।

कालान्तर में सुजाता की मनोकामना पूर्ण हुई। वयः प्राप्त होने पर, उच्च कुल के एक सदाचारी और गुणवान पुरुष से उसका विवाह हुआ। जैसी सुजाता की अपने पति पर अपूर्व श्रद्धा थी, वैसा ही उसका पति भी उससे अत्यन्त प्रेम करता था। दोनों का जीवन सुखी था और दोनों ही सन्तुष्ट थे। कमी थी तो सिर्फ़ यह कि पति-पत्नी के प्रेम को पवित्र शृंखला से दृढ़ करनेवाला पुत्र अभी उन्हें प्राप्त नहीं हुआ था। पर इसके लिए भी उन्हें निराश न होना पड़ा। कुछसमय तक सुखी दाम्पत्य-जीवन व्यतीत करने के बाद, सुजाता ने एक सुन्दर और तेजस्वी पुत्र प्रसव किया। अब तो पति-पत्नी के आनन्द की सीमा न रही। लेकिन, इस परमानन्द के बीच भी, सुजाता का कृतज्ञ-हृदय अपने वन-देवता को न भूला। और मनोरथ-सिद्धि हो जाने पर उसने पूरी उमंग के साथ वन-देवता के नैवेद्य-पूजन आदि की तैयारी की।

वैशाखी पूर्णिमा के दिन, बड़े सबेरे से वह वन-देवता की पूजा की तैयारी में लगी। अपने पिता के घर जाकर, उसने गायों को सम्हाला उसने ऐसा नियम बना रक्खा था कि एक हज़ार गायों को दुहकर उनका दूध पाँचसौ गायों को पिलाती, उन पाँचसौ को दुहकर ढाई

सौ को पिलाती, इसी प्रकार करते-करते कुल आठ गायों का दूध दुहा जाता। इसी दूध की स्वादिष्ट खीर उसने अपने वन-देवता के लिए बनाई।

वह स्वयं तो खीर बनाने में लगी, और अपनी दासी पन्ना को भेजा कि वन-देवता के निवास-स्थान को भलीभाँति झाड़ बुहार कर साफ़ कर आये। गौतम बुद्ध को तपस्या आरम्भ किये कोई छः वर्ष हो चुके थे और संयोगवश इस समय वह उसी बट-वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ थे, जिसमें कि सुजाता के वन-देवता का निवास था। तपस्या और परिमित आहार ने उनके चेहरे को ऐसा तेजोमय कर रक्खा था कि पन्ना उनको देखकर सहम गई। उसकी आँखें चौंधिया गई और उसे ऐसा प्रतीत हुआ, मानों स्वयं वन-देवता अपने साक्षात् रूप में प्रकट हुए हैं! अतः वह दौड़ी हुई आई और सुजाता से कहा—"बहन! जल्दी करो। तुम पर अनुग्रह करने के लिए, साक्षात् वन-देवता बट-वृक्ष के नीचे आकर बैठे हुए हैं।"

पन्ना की बात सुनकर सुजाता का उत्साह और बढ़ गया। जल्दी-जल्दी पूजन और नैवेद्य की समस्त सामग्री जुटाई। पूजा का सामान पन्ना को दिया और स्वर्ण-पात्र में खीर लेकर स्वयं अपने सिरपर रक्खी। इस प्रकार श्रद्धा और उत्साह के साथ सुजाता वनदेवता की पूजा को चली। पन्ना तो पहले ही बुद्ध को वन-देवता समझ चुकी थी, उनकी गम्भीर मुख-मुद्रा देखकर सुजाता को भी पूर्ण विश्वास हो गया कि यही वन-देवता हैं। अतः बड़ी भक्ति के साथ उसने उनके सन्मुख खीर का पात्र रक्खा और चन्दनादि से उनकी पूजा करके उनकी

प्रदक्षिणा की। इसके बाद एक ओर खड़ी होगई। और पन्ना तो हर्षातिरेक से इतनी ओतप्रोत हुई कि ज़ोर-ज़ोर से स्तुति-वन्दना करती हुई उनके आगे लोट-पोट हो गई।

इस गड़बड़ से बुद्ध का ध्यान टूटा और उन्होंने आँखें खोलीं। तब सुजाता ने कहा—

"महापुरुष! हम वन-देवता की पूजा के लिए यहाँ आई थीं; और यह समझकर कि आप ही वह वन-देवता हैं, यह खीर आपके अर्पण की है। मेरी प्रार्थना स्वीकार कर आप इसे ग्रहण करने की कृपा करें। आप-जैसे साधु-पुरुष इसे ग्रहण करेंगे तो मेरे देवता मुझपर अत्यंत प्रसन्न होंगे, इसमें सन्देह नहीं।"

सुजाता का आग्रह और श्रद्धा देखकर भगवान् ने उसका नैवेद्य स्वीकार किया। उसे खाकर, उपवास और तपस्या से आई हुई उनकी थकान कम हुई; और नवजीवन का संचार हुआ।

सुजाता को इससे बड़ी प्रसन्नता हुई और उसने अपना सब हाल कहकर बुद्ध से अपने पुत्र के लिए आशीर्वाद माँगा। बुद्ध ने अपना सब हाल बताकर सुजाता से पूछा—"तुम्हारी दिनचर्या क्या है और तुम्हारी समझ में धर्म का सच्चा रहस्य क्या है?" इसपर सुजाता ने कहा—

"भगवान्! मैं तो एक यही बात जानती हूँ कि अच्छे कामों का सदा अच्छा परिणाम होता है और बुरे कामों का बुरा। वैर से वैर पैदा होता है, स्नेह से मैत्री होती है और धीरज एवं सहिष्णुता से शान्ति मिलती है। अतः जो मार्ग पवित्र प्रतीत होता है मैं तो

उसीपर चलती हूँ, विनम्रता के साथ सदा सतत-धर्म का पालन करती हूँ, और हृदय में यह अटूट श्रद्धा रखती हूँ कि मेरा भविष्य सुखमय होगा।”

सुजाता का यह जवाब सुनकर बुद्ध बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उसके नवेद्य एवं बोध की प्रशंसा करते हुए कहा—“बहन! मैं ऐसे ज्ञान की तलाश में निकला हूँ जिससे समस्त संसार का शोक मिट सके। मैं चाहता हूँ कि जैसे तुम्हारी मनोरथ-सिद्धि हुई है ऐसे ही मेरी भी मनोकामना सिद्ध हो जाय। अतः जिसे तुमने ईश्वर समझ कर पूजा है, वही मैं तुमसे विश्व-कल्याण के लिए सिद्धिप्राप्ति का आशीर्वाद माँगता हूँ।”

इस प्रकार धर्म के विकास तथा अपनी सिद्धि के लिए बुद्ध ने सुजाता से आशीर्वाद माँगा और सुज़ाता ने ‘तथास्तु’ कहकर आशीर्वाद दिया। तब बुद्ध ने बालक को आशीर्वाद दिया और सुजाता को भक्तिपूर्वक प्रणाम करके विदा किया। इसके बाद ही उन्हें सच्चे ज्ञान की प्राप्ति हुई और उसे प्राप्त करके वह बुद्ध बने।

बुद्ध ने जिसके आशीर्वाद की इच्छा की उस स्त्री का जीवन कितना उच्च और निर्मल होगा, यह समझना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। इसी लिए बौद्ध-साहित्य में सुजाता के इस कथानक का बहुत महत्व है और पवित्रता और कोमलता के एक विशेष भाव के साथ, हम सुजाता का स्मरण करते हैं। सचमुच ऐसी देवी धन्य है और हम सब के आदर के पात्र हैं।

८

समाज-सेविका

सुप्रिया

समाज-सेविका सुप्रिया अनाथपिण्डद नामक एक प्रसिद्ध धनी व्यापारी की लाड़-प्यार में पली हुई कन्या थी। इसके बारे में ऐसा कहा जाता है कि वे माता के उदर से उत्पन्न होते ही, कौतुक भरी दृष्टि से अपनी जननी की ओर देखते हुए इस बौद्ध गाथा का उच्चारण करने लगी थी। "बौद्ध लोगों को पुष्कल धन और खाने-पीने की चीज़ें देकर सन्तुष्ट करो। और जहाँ-जहाँ पवित्र बौद्धस्थान हों वहाँ-वहाँ चम्पा के सुगन्धित फूल चढ़ाओ।"—यह उस गाथा का अर्थ था।

कुछ वर्ष बाद एक बौद्ध परिव्राजक (साधु) इनके घर भिक्षा माँगने आया। इस साधु का धर्मोपदेश-रूपी बीज सुप्रिया की उपजाऊ चित्त-भूमि में पड़ने के साथ ही अंकुरित हो गया और कुछ ही समय में उसने बढ़कर बड़े वृक्ष का रूप धारण कर लिया। कहते हैं कि किसी अद्भुत शक्ति के प्रभाव से यह अपने पूर्व जन्म का वृतान्त कह सकती थी। केवल सात वर्ष की आयु में महाप्रजावती गौतमी के हाथों इसने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली थी। इसके बाद तत्वज्ञानी के रूप में तो इसकी प्रसिद्धि हुई कि, इसने अपना समस्त बहुमूल्य समय केवल तत्वज्ञान प्राप्त

करने और बौद्ध धर्म का अध्ययन करने में ही नहीं बिताया प्रत्युत प्लेग आदि संक्रामक बीमारियों के रोगियों, अकाल से भूखों मरते कंगालों और ग़रीबों की सेवा-टहल करके यह सब लोगों को अपना आभारी बनाती रही। एक घटना यहाँ दी जाती है, उससे इसकी परोपकार एवं सेवा वृत्ति का कुछ परिचय मिलेगा।

भगवान् बुद्धदेव जेतवन के विहार में निवास कर रहे थे। धन और जन से परिपूर्ण समृद्धिशाली श्रावस्ती के नगरवासी दस साल से घोर दुर्भिक्ष के पंजे में फंसे हुए थे। उन्हें अन्न के लाले पड़ रहे थे। खेतों में अनाज का नाम नहीं था। तरह-तरह के रोगों के शिकार बनकर लोग हड्डियों के पिंजर बन गये थे।

निर्धन, अनाथ, भूखे दुर्भिक्ष पीड़ितों का क्रन्दन श्रीमन्तों के राज-भवनों में होता हुआ अनन्त आकाश में विलीन हो जाता था। ये श्रीमन्त अपनी आँखों उनका दुःख देखते और कानों से उनके करुण चीत्कार सुनते, परन्तु फिर भी उनके दुःख निवारण का कोई उपाय उन्होंने नहीं किया। इस विषम दुष्काल के समय में ग़रीबों की मदद करने की ज़रा भी सहानुभूति इन धनिकों के हृदय में उत्पन्न नहीं हुई।

श्रावस्ती में इस समय धन-कुबेरों की संख्या कम हो, ऐसी बात नहीं थी; परन्तु दुर्भिक्ष-पीड़ितों की मदद करने में तो इनमें से अधि-कांश कंजूसी ही दिखाते थे। उनकी मदद तो दूर, उलटे इन्हें तो रात-दिन यही चिन्ता लगी रहती कि कहीं ये लोग हमारे घरों में घुसकर हमारी धन-दौलत न लूट लें। इस डर के मारे धन-दौलत और बहुमूल्य गहने-कपड़ों की सुरक्षा के प्रबन्ध में ही इनका सारा समय व्यतीत

होता था। मतलब यह कि ये सब इस समय भी अपने-अपने कुटुम्ब का ही पोषण करने के विचारों में तल्लीन रहते थे। दूसरों का विचार भला कोई क्यों करता ?

एक दिन सबेरे विहार के दरवाज़े के सामने एक निराश्रय बालक मृतप्राय अवस्था में पड़ा हुआ मिला। बुद्धदेव के प्रधान शिष्य आनन्द ने जब उसे देखा, तो उसे बड़ा दुःख हुआ। बालक की जीवन-रक्षा की उसे बड़ी चिन्ता हुई। यही नहीं बल्कि भगवान् बुद्ध के पास जाकर आनन्द ने यह भी कहा—"भगवान्! ऐसे समय अन्न के लिए तड़पते हुए मृतप्राय होनेवाले मनुष्यों की रक्षा के लिए भिक्षु-संघ को क्या करना चाहिए ?"

आनन्द की बात सुनकर बुद्धदेव थोड़े सोच में पड़ गये। पश्चात् अपनी शान्त मुद्रा को भंगकर आहिस्ता से कहा—"इस समय तुम्हारा क्या कर्तव्य है, यह तुम स्वयं ही सोच लो।"

आनन्द ने फिर विशेष कुछ पूछना ठीक नहीं समझा। बहुत देर तक वह एकटक तथागत बुद्ध की ओर देखता रहा; तदुपरान्त आकाश की ओर देखने लगा।

आकाश इस समय सूर्यदेव की प्रखर किरणों से प्रकाशमान् हो रहा था। आनन्द स्थविर कुछ देर तक अनिमेष दृष्टि से उदात्त चित्त होकर उसकी ओर निहारता रहा। उसकी आँखों में पानी भर आया। आर्त्त—पीड़ित-मनुष्यों की रक्षा के लिए उसका हृदय एकदम चंचल हो उठा और नेत्रों में सहानुभूति की तीव्र ज्योति झलकने लगी।

पास बैठे हुए सब भिक्षु उसके मुख की ओर देख रहे थे।

आनन्दस्वामी ने स्नेहपूर्ण दृष्टि से उनकी ओर देखा और गुरुजनों की आज्ञा लेकर वहाँ से चल दिया।

सायंकाल विहार में आये हुए भक्तों को भगवान् बुद्ध ने 'प्राणियों के दुःख एवं उसके कारण' विषय का उपदेश किया। इसके बाद उनके जाने से पहले बातचीत के सिलसिले में श्रावस्ती के दुर्भिक्ष का विस्तृत वर्णन करके सबसे इस संकट का निवारण करने का आग्रह किया।

अपने भक्तों को सम्बोधन करके भगवान् तथागत ने कहा—
—"तुममें से अनेक कुबेर के समान सम्पत्तिशाली हैं। मुझे विश्वास है कि तुममें से कोई एक आदमी भी चाहे तो इस दुर्भिक्ष-संकट को मिटा सकता है, ऐसा न भी हो सके तो भी सब मिलकर तो इस दुःख को ज़रूर ही मिटा सकते हैं।"

धनकुबेर रत्नाकर सेठ उठे और हाथ जोड़कर बोले—"भगवान्! श्रावस्ती कोई छोटा-सा नगर तो है नहीं, यह तो महाविशाल नगर है; इतने सब आदमियों के लिए अन्न की व्यवस्था करना मेरे बूते का तो काम नहीं है।"

बुद्धदेव ने सामन्तराज जयसेन को लक्ष्य करके कहा—"रत्नाकर सेठ से जो काम नहीं हो सकता वह, मुझे आशा है, आप कर सकेंगे।" पर जयसेन ने नतमस्तक होकर कहा—"भगवान्! आपसे कुछ छिपा नहीं है। मेरे तो अपने ही घर में आजकल अन्न का अभाव है, तब देश भर की अनाज की कमी मैं कैसे पूरी कर सकता हूँ? महाराज! बँधी मुट्ठी लाख की है।"

"ठीक !" बुद्धदेव ने हँसकर कहा।

इसके बाद एक दूसरे लखपति सेठ धर्मपाल से उन्होंने कहा—"वत्स ! मैं समझता हूँ कि तुम प्रयत्न करो तो संभवतः यह संकट मिट सकता है।" पर धर्मपाल ने नम्रता के साथ कहा—"भगवन ! आपको तो मालूम ही है कि इस साल काफ़ी अनाज पैदा न होने से यह अकाल पड़ा है। मेरे पास खेतों को तो बहुतायत है, परन्तु उन सब में नाज नहीं हुआ। मेरे लिए तो राज्य-कर देना ही भारी हो गया है, ऐसी हालत में इस विशाल नगर के भूखे लोगों को अन्न कैसे दे सकता हूँ ?"

"तब", भगवान् ने कहा—"क्या यहाँ ऐसा कोई नहीं है, जो चाहे तो इस भयंकर दुर्भिक्ष से अपने देशबन्धुओं की रक्षा कर सके?"

किसीने इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया।

भगवान् का प्रिय शिष्य लखपती अनाथपिण्डद इस समय वहाँ मौजूद नहीं था। बुद्धदेव ने एक बार सारी उपस्थित मण्डली की ओर दृष्टिपात किया। ऐसा जान पड़ता था कि उनकी पवित्र आँखें सभा में अनाथपिण्डद की ही खोज कर रही थीं, परन्तु वह तो वहाँ था नहीं।

बुद्धदेव शान्त भाव से अपने आसन पर विराजमान रहे। सबकी दृष्टि उन्हींकी ओर लग रही थी। पास बैठे हुए भिक्षु भी उत्सुकता के साथ उनके अन्य आदेश की प्रतीक्षा कर रहे थे।

बुद्धदेव ने एक बार फिर से उपस्थितजनों की ओर देखकर कहा—"तब यहाँ ऐसा कोई नहीं, जिसके प्रयत्न से देशवासियों की रक्षा हो सके ?"

"है।"—एक ओर से कोमल पर दृढ़ आवाज़ आई। उत्कण्ठा के साथ सबकी आँखें उसी ओर केन्द्रित होगईं और बुद्धदेव की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा।

"भगवन्! मैं आपकी दीन सेविका—मैं आपकी आज्ञा शिरोधार्य करने के लिए सदा तैयार हूँ।" एक तेरह वर्षीय बालिका ने धीरे-धीरे भगवान् के सामने आकर आहिस्ता से कहा—"यह अधम सेविका आपके आज्ञा-पालन के लिए अपने प्राण तक देने को तैयार है।"

उपस्थितजन कुछ तो स्तम्भित हो गये और कुछ उसकी बात को हँसी में उड़ाने लगे। आनन्द स्वामी ने गंभीरता के साथ सबसे शान्त रहने की प्रार्थना की। तदुपरान्त उस किशोरी की ओर देखकर धीरे स्वर में बुद्धदेव ने कहा—"बेटी! तू तो अभी बालक है। तेरे प्रयत्न से इस विशाल महानगर के अन्न की अभाव-पूर्त्ति कैसे होगी?"

"होगी और अवश्य होगी।" तेजोगर्वित स्वर में उस बालिका ने कहा—"भगवान् का अनुग्रह होगा तो यह बालिका नगरवासियों को दुर्भिक्षपीड़ा से अवश्य मुक्त करेगी।"

कुछ देर तक स्थिर दृष्टि से भगवान् की ओर देखते रहने के बाद, बालिका ने कहा—'प्रभु! आपही कहिए कि लोगों के कष्ट-निवारण के लिए धनिकों की ओर से कोई प्रयत्न न हो तो क्या इस कारण देश का यह कष्ट कभी भी दूर ही न होगा? और कोई दया-भाव न दरसावे, तो क्या माता भी अपने भूखे मरते बालकों पर दया दिखाने में संकोच करेगी?"

"बच्ची !" भगवान् ने कहा, "एक बालक का पालन करने की बात नहीं है, यहाँ तो देश की करोड़ों सन्तानें भूखी बिलबिला रही हैं। एक माता के प्रयत्न से उन सब बालकों की भूख कैसे मिट सकेगी ?"

बालिका ने फिर भी पहले के सामन ही दृढ़ता से कहा—"मिट सकती है और ज़रूर मिटेगी।" इसके बाद अपने हाथ में का भिक्षा-पात्र बताकर बोली—"भगवन ! आपकी कृपा होगी तो मेरा यह भिक्षा-पात्र सदा भरा हुआ ही रहेगा। जो धनी आपके आज्ञा-पालन से विमुख हो रहे हैं उनके भण्डारों में मेरा यह भिक्षा-पात्र भरने की सामग्री का कोई अभाव नहीं है। मैं उनके घरों से भिक्षा लेकर आऊँगी और ग़रीबों को खिलाऊँगी, इस प्रकार दुर्भिक्ष-पीड़ितों के लिए अन्न की अभाव-पूर्ति होगी।"

आनन्दस्वामी के हर्ष का ठिकाना न रहा। वह अपने आसन से उठे और बालिका को आशीर्वाद देते हुए बोले—"मातृ-रूप बालिके! भगवान अमिताभ (बुद्ध) तेरी कामना पूर्ण करें।" भगवान् बुद्ध ने भी आशीर्वाद देकर उसे विदा दी और सभा विसर्जित हुई।

कहना नहीं होगा कि सुप्रिया ही यह बालिका थी। दुर्भिक्ष-पीड़ितों के लिए उसने अपना रात-दिन एक कर दिया और कोई प्रयत्न बाक़ी न छोड़ा। अपनी तीव्र बुद्धि से वह इस बात को समझ गई थी कि बुद्धदेव के मन में क्या बात है। इसीलिए जब कुबेर-जैसे धनवानों ने बहाने बनाने शुरू किये तो वैभव के बीच जन्मी हुई इस बालिका ने दुःखी-दरिद्रों की सेवा के लिए अपने हाथ में भिक्षा की झोली लेली।

यह सब जानते ही हैं कि जो अपने भाई-बहनों पर दया दिखाता है, उनके दुःख में दुःखी होता है और अपने तन-मन-धन से उनकी मदद करने का प्रयत्न करता है, उसकी भगवान भी ज़रूर मदद करते हैं। यही कारण है कि भगवान् के आशीर्वाद से सुप्रिया का भिक्षा-पात्र कभी रिक्त नहीं हुआ। लोगों ने जब करोड़पति सेठ की इस लड़की को दूसरों के लिए भीख माँगते देखा तो उनके कठोर हृदय भी पिघल गये। उनकी मदद से सुप्रिया ने सब दुर्भिक्ष-पीड़ितों को अन्न-की सहायता पहुँचाई। अपने इस असाधरण प्रयत्न के कारण ही बौद्ध स्त्रियों से इतिहास में सुप्रिया 'दयावती' के नाम से प्रसिद्ध हो गई है। इसके उदाहण से यह स्पष्ट है कि आत्म-विश्वास एवं ईश्वरी कृपा हो तो एक छोटी 'अबला' भी परोपकार के कितने महान् कार्य कर सकती है। साथ ही सुप्रिया तथा अन्य अनेक भिक्षुणियों के जीवनों से हमें यह भी मालूम पड़ता है कि भारतीय स्त्रियाँ जन-सेवा के कार्य में हमेशा तत्पर रहती थी।

६

वारांगना

वासवदत्ता

वासवदत्ता प्राचीन काल की एक वेश्या थी, जो मथुरा में रहा करती थी। इसका सौन्दर्य अपूर्व था, जिससे मोहित होकर श्रीमन्तों के अनेक युवा पुत्रों ने अपना सर्वनाश कर लिया था।

एक दिन भगवान बुद्ध के शिष्य संन्यासी उपगुप्त पर वासवदत्ता की नज़र पड़ी। उपगुप्त ब्रह्मचारी था। उसका क़द लम्बा, शरीर हृष्ट-पुष्ट, मुख कान्तियुक्त और विशाल भाल ब्रह्मचर्य के पवित्र तेज से दैदीप्यमान था। वासवदत्ता उपगुप्त पर मुग्ध हो गई और प्रेमाकांक्षा से प्रेरित होकर उसको अपने यहाँ आने के लिए निमंत्रित किया। परन्तु उपगुप्त जितेन्द्रिय संन्यासी था। अतः शान्तिपूर्वक उसने यही कहा---"उपगुप्त के लिए अभी वासवदत्ता के घर जाने का समय नहीं आया है।"

जिस वासवदत्ता के सौन्दर्य की अग्नि में भस्म हो जाने के लिए मथुरा के लखपती और करोड़पती तैयार थे, उसी वासवदत्ता के सौन्दर्य की उपेक्षा---और वह भी एक भिखारी के द्वारा। वासवदत्ता के आश्चर्य ठिकाना न रहा। वह सोचने लगी कि संन्यासी के पास मुझे देने को धन न होने के कारण शायद वह आने में संकोच करता

होगा। इसलिए उसने पुनः उपगुप्त को कहलवाया, कि वासवदत्ता तुमसे स्वर्ण-मुद्रायें नहीं चाहती; वह तो केवल तुम्हारे प्रेम की भूखी।' पर संन्यासी ने इस बार भी धीरज के साथ वही जवाब भिजवा दिया।

इस बात को कई महीने बीत गये। इस बीच वासवदत्ता मथुरा के एक धनी पुरुष को अपने कृत्रिम प्रेम-जाल में फँसाने का प्रपञ्च कर रही थी। इतने में ख़बर मिली कि भारत का एक प्रसिद्ध धनी मथुरा आया है। अतः धन के लोभ में इसने उसे अपने वश करने का यत्न आरम्भ किया, और इसके लिए मथुरा-निवासी पूर्वोक्त युवक की हत्या करके उपलों के ढेर में उसे छिपा दिया। युवक के सम्बन्धियों ने राज्य में फरियाद की तब पुलिस की मदद से उपलों के ढेर में से उसकी लाश निकाली गई। फलतः सरकारी न्यायालय में मुक़द्दमा गया और वहाँ से सिपाहियों को यह राजाज्ञा हुई कि वासवदत्ता के हाथ-पैर तथा नाक-कान काटकर उसे स्मशान में डाल आओ।

राजाज्ञा के अनुसार वासवदत्ता के हाथ-पैर तथा नाक-कान काटकर स्मशान के पास डाल दिया गया। इन कटे हुए स्थानों से लगातार खून की धार बह रही थी, जिससे वासवदत्ता के कपड़े भी तरबतर हो गये। मांस खाने के लिए कौए अलग ही आ-आकर उसके शरीर में चोंचें मारते थे। एक दयालु दासी वहाँ बैठी हुई उन्हें उड़ाने का प्रयत्न कर रही थी। इतने में सौम्यमूर्त्ति संन्यासी उपगुप्त वहाँ आये।

संन्यासी को देखते ही वासवदत्ता ने दासी से अपने कटे हुए भागों को ढक देने के लिए कहा। उपगुप्त ने करुणापूर्ण स्वर में हाल

पूछा तो वासवदत्ता उलटी चिढ़ गई और कहने लगी—"एक दिन मेरा यह शरीर कमल की तरह अपने सौन्दर्य से चारों ओर सबको मोहमुग्ध करता था, मणि-मुक्ताओं और बारीक मलमल के वस्त्रों से यह विभूषित था, उसी समय मैं तुम्हारे प्रेम की भूखी थी आज तो अत्याचारी राजा की आज्ञा से मेरा अंग-भंग होगया है, लोहू से रंगाकर मेरे कपड़े ख़राब हो गये हैं; अब तुम किस लिए आये हो?"

"बहन!" संन्यासी ने जवाब दिया, "भोग की इच्छा से मैं तेरे पास नहीं आया हूँ। शरीर की सुन्दरता तो तेरी गई, परन्तु उससे भी कहीं उत्तम सौन्दर्य प्रदान करने लिए मैं यहाँ आया हूँ।

"जिस समय तू चारों ओर विषय-भोग के वातावरण से घिरी हुई थी उस समय क्षणिक भोग-लालसा तेरे हृदय में प्रबल थी, उस समय धर्मोपदेश किया जाता तो तेरे मन में कभी स्थान न पाता क्षणभंगुर रूप के अभिमान में उस वक्त तू ऐसी फूली हुई थी, कि जगदोद्धारक महात्मा तथागत (बुद्धदेव) का पवित्र उपदेश किया भी जाता तो तू उसपर ध्यान न देती। इसीलिए मैं जान-बूझकर उस दिन तेरे पास नहीं आया। परन्तु आज स्थिति बदल गई है, आज तू असहाय और अभिमान-रहित है, इसलिए आज मैं बिना बुलाये ही वह उपदेश सुनाने के लिए तेरे पास आया हूँ।

"देख, अस्थायी बाह्य सौन्दर्य और भोग-विलास में तल्लीन हो जाने का यह कैसा शोचनीय परिणाम हुआ है!! सुन्दर हृष्ट-पुष्ट शरीर का सौन्दर्य तुम्हें भ्रम में डालकर सर्वनाश के रास्ते ले गया है। परन्तु, वासवदत्ता! याद रख, एक दूसरा सौन्दर्य ऐसा भी है

जिसका कभी नाश नहीं होता। भगवान बुद्धदेव का अमृतमय उपदेश सुनकर तेरे हृदय को ऐसी शान्ति मिलेगी और तेरा हृदय ऐसा सुन्दर बन जायगा, कि चिरकाल के उस शाश्वत सुख के मुक़ाबले में इस जगत् में इन्द्रियों के भोग-विलास से मिलनेवाले क्षणिक सुख का कोई मूल्य ही नहीं रहेगा।"

इसी तरह की और भी कई बातें उन्हें कहीं। वासवदत्ता का व्यग्र-हृदय उपदेश सुनकर शान्त हो गया और आध्यात्मिक आनन्द में विभोर होकर अपनी शारीरिक वेदना का उसे स्मरण ही नहीं रहा।

जगत् में जैसे दुःख की वेदना है उसी प्रकार दूसरी ओर उस दुःख से भी कहीं अधिक शान्ति देनेवाला आध्यात्मिक ज्ञान भी है। बुद्ध-धर्म के आश्रय द्वारा उसी आध्यात्मिक ज्ञान का ग्रहण करके अपना समस्त जीवन पापाचार में व्यतीत करनेवाली वारांगना वासवदत्ता भी आख़िर शान्तिपूर्वक मृत्यु को प्राप्त हुई।

१०

दया की मूर्त्ति

रुकमावती

जिधर देखो उधर ही दया और परोपकार की बातें तो बहुत सुनाई पड़ती हैं, इसके लिए थोड़ा-बहुत दुःख उठानेवाले भी मिलते हैं; परन्तु एक अन्य जीव की रक्षा के लिए अपने अंग-भंग को भी तैयार हो जानेवाले विरले ही मिलेंगे। जो थोड़े-से ऐसे व्यक्ति हैं, उनकी महानता निश्चय ही मानव सन्देह से परे की वस्तु है। दया की मूर्त्त-रूप रुकमावती का ऐसे व्यक्तियों में बहुत ऊँचा स्थान है।

रुकमावती बौद्ध काल की एक धनी, दयालु और विद्वान स्त्री थी। उत्पलावती नगर में इसका निवास था। यह इतनी दयालु और परोपकारिणी थी कि जिस मुहल्ले में यह रहती थी वहाँ के किसी भी स्त्री-पुरुष के बारे में यह खबर मिलते ही कि वह अन्न-वस्त्र की तंगी से दुःख पा रहा है, यह तत्काल उसके दुःख निवारण का उपाय करती। यही नहीं बल्कि गुप्त रूप से सदा इस बात का पता लगाती रहती कि किस मुहल्ले में कौन दीनदुःखी है, और फिर तन-मन-धन से उसका दुःख दूर करने में लग जाती थी।

एक साल वहाँ ज़बरदस्त अकाल पड़ा। भूख-रूपी अग्नि की ज्वाला से जलनेवाले नर-नारियों के करुण क्रन्दन से उत्पलावती का

सुन्दर शहर स्मशान जैसा लगने लगा। भूखों मरते लोग चारों तरफ़ लपलपाती जीभ लिये फिर रहे थे। नगर तथा नगर-बाहर के सभी वृक्षों के बेल-पत्तों, फूलों और खेतों की घास तक को दुर्भिक्ष-पीड़ित अपना भक्ष्य बना चुके थे; फिर भी उनकी भूख-ज्वाला शान्त न हो सकी। 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्!' आख़िर साँसारिक नाते-रिश्ते, प्रेम और ममत्व का सम्बन्ध, भूलकर जैसे भी हो अपनी क्षुधा-ज्वाला को शान्त करने की ही धुन रह गई।

एक दिन सरेआम दुर्भिक्ष-पीड़ित, अस्थि कंकाल भूख के मारे चक्कर खाती हुई एक स्त्री खाने के लिए और कुछ न होने के कारण अपने तुरत के जाये बालक को ही काटकर खा जाने की तैयारी कर रही थी! सहसा रुकमावती की उसपर नज़र पड़ी। यह करुण दृश्य देख वह स्तम्भित हो गई। वह सोचने लगी—'ओह, मनुष्य-हृदय इतना कठोर कैसे हो जाता है। स्वयं माता अपने शरीर-पोषण के लिए अपने पुत्र के शरीर का मांस उदर में डालकर अपनी भूख मिटाना चाहती है। क्या यह एक-दूसरे के भेदभाव को प्रकट नहीं करता?' यह सोचती हुई वह भूखों मरती उस स्त्री के पास गई और बोली—"ओ भूखी बहन! शान्त हो। धीरज धर।"

भूखों मरती स्त्री ने कहा—"धीरज तो बहुत कुछ रक्खूँ, पर खाऊँ क्या? देश भर के जंगली साग-पत्ते, वनस्पति और घास तक लोगों के पेट में पहुँचकर समाप्त हो चुके हैं, तब फिर मैं क्या पत्थर खाऊँ?"

"धीरज धरो, बहन!" रुकमावती ने कहा—"मैं अभी घर जाकर

तुम्हारे खाने को कुछ ले आती हूँ, उसे खाना, इस तुरत के जाये बच्चे को तो मत खाओ। बस, थोड़ा-सा सब्र करो।"

इस प्रकार समझा-बुझाकर कुछ देर के लिए तो रुकमावती ने उस स्त्री को अपना बच्चा खाने से रोका, परन्तु फिर उसे ख़याल आया—"यदि मैं खाना लेने घर गई तो आश्चर्य नहीं कि, इस बीच मौक़ा पाकर, भूख से विवेक-हीन बनी हुई यह स्त्री अपनी बात का ख़याल भूलकर बच्चे को खा जाय। तब तो बच्चे के प्राण बचाने का मेरा प्रयत्न व्यर्थ ही न होगा?" फिर उसने सोचा—"बच्चे की रक्षा के लिए यदि उसे मैं इसकी गोद से ज़बरदस्ती ले जाऊँ, तो भी ठीक नहीं। उस हालत में तो, आश्चर्य नहीं कि जठराग्नि की वेदना और पुत्र-वियोग के शोक से अधीर होकर यह अपने प्राण ही त्याग दे। तब तो उल्टे मुझे स्त्री-हत्या का पाप न लगेगा?"

वह बड़े असमंजस में पड़ गई, लेकिन सोच-विचार में समय लगाने का अवसर नहीं था। अतः शीघ्र उसने एक गम्भीर निश्चय किया। बच्चे के प्राण बचाने के अपने दृढ़-निश्चय की पूर्ति के लिए, आख़िर उसने अपनेको ख़तरे में डालने का फ़ैसला किया। फलतः धैर्य-पूर्वक एक तेज़ छुरी से उसने अपना स्तन काटकर सन्तान के खून की प्यासी, दुर्भिक्ष-पीड़ित, भूख से छट-पटाती हुई स्त्री की ओर फेंक दिया। वह स्त्री कितनी भूखी थी, यह इसीसे स्पष्ट है कि वह उस मांसपिण्ड को उठाकर तुरन्त स्वाहा कर गई। इधर मौक़ा पाकर, दयालु रुकमावती बालक को उठाकर चलदी।

उसकी छाती से बहती हुई लोहू की धार ने उत्पलावती नगर के

राजमार्ग को रंग दिया, परन्तु इसके साथ ही अपनी भावी पीढ़ियों के लिए दया की अतिशयता का एक महा उत्कृष्ट उदाहरण भी वह छोड़ गई। न-कुछ करते हुए भी दया और सेवा का ढोल पीटनेवाले नर-नारी इस देवी से शिक्षा लें, तो उन्हें मालूम होगा कि यह मार्ग दिखावे और शोहरत का नहीं प्रत्युत् स्वार्पण का ही सर्वोच्च रूप है।

यह उत्कृष्ट आदर्श हमारे सामने प्रस्तुत करनेवाली देवी रुक्मावती सचमुच धन्य हैं। और निस्सन्देह हम उन्हें दया का मूर्त्त-रूप कह सकते हैं।

११

मिगार-माता

विशाखा

बौद्ध-धर्म के ग्रंथों में जिन साध्वी सन्नारियों का उल्लेख मिलता है, उनमें विशाखा का स्थान बहुत ऊँचा है।

श्रावस्ती से सात योजन के फ़ासले पर साकेत नाम का एक बड़ा शहर बसा हुआ था। इस शहर को बसानेवाले धनञ्जय श्रेष्ठी की गिनती उस समय के करोड़पतियों में की जाती थी। विशाखा इन्हीं करोड़पती सेठ की एक कन्या थी, उसका सौन्दर्य अपूर्व था। वयःप्राप्त होने पर, श्रावस्ती के मिगार श्रेष्ठि-पुत्र पूर्णवर्धन के साथ उसका विवाह-सम्बन्ध निश्चित हुआ। साकेत और श्रावस्ती, दोनों जगह बड़ी शान-शौकत से उभयपक्ष ने विवाह-समारोह किया।

विवाह-कृत्य के बाद, धनञ्जय श्रेष्ठि अपनी कन्या को श्रावस्ती ले गया। वहाँ अपनी जाति के आठ कुलीन गृहस्थों को बुलाकर, समधी (मिगारश्रेष्ठी) के सामने, उसने कहा—"मेरी कन्या में कोई दोष मालूम पड़े तो आप अच्छी तरह उसकी देखभाल रखें।" इसके बाद, विशाखा को ससुराल छोड़कर, वह साकेत लौट गया।

विशाखा का श्वसुर मिगार-श्रेष्ठी निर्ग्रंथ (नंगा-सम्प्रदाय) का उपासक था। अपने पुत्र के विवाह-समारोह के सिलसिले में, एक

दिन उसने निर्ग्रंथ श्रमणों (नंगे संन्यासियों) को अपने यहाँ भोजन के लिए आमंत्रित किया। उनके लिए दूध और चावल की खीर बनवाई गई। निर्ग्रन्थों के आने पर मिगार श्रेष्ठि ने आदर के साथ स्वयं उनका आतिथ्य किया और सन्तोषपूर्वक उन्हें भोजन कराया। भोजनोपरान्त अपनी पुत्र-वधू विशाखा को उसने कहलवाया, कि "'अर्हन्त' अपने यहाँ आये हुए हैं, आकर उन्हें प्रणाम कर जाओ।"

विशाखा छुटपन से ही भगवान् बुद्ध की उपासिका थी। बुद्ध और बौद्ध भिक्षुओं को 'अर्हन्त' कहते हैं, यह वह जानती थी; इनके सिवा और किसीको भी 'अर्हन्त' कहते हैं, यह उसे मालूम न था। अतः 'अर्हन्त' के आगमन की बात सुनकर उसे बड़ी खुशी हुई और जल्दी-जल्दी कपड़े पहनकर वह वहाँ गई, जहाँ उसके श्वसुर मिगार-श्रेष्ठि और उनके सौ अर्हन्त बैठे हुए थे। परन्तु वहाँ बुद्ध या बौद्ध साधु कहाँ थे, वहाँ तो नंगे साधुओं (निर्गन्थ श्रमणों) का जमघट था। यह देख विशाखा के आश्चर्य का ठिकाना न रहा और बड़े तिरस्कार के साथ अपने श्वसुर से उसने कहा—"भला यहाँ आपने मुझे किसलिए बुलाया है ? ऐसे नंग-धड़ंग लोग भी कहीं अर्हन्त हो सकते हैं ? ऐसे निर्लज्जों को तो हम अर्हन्त नहीं कह सकते।" इसके बाद उलटे पैरों वह वहाँ से लौट गई।

इधर उक्त श्रमणों को नववधू द्वारा किया गया अपना अपमान बहुत खला और वे मिगारश्रेष्ठि से कहने लगे,—"वाह रे गृहस्वामी ! ऐसी कर्कशा को तू कहाँ से पकड़ लाया ? मानों तेरे पुत्र को सारी दुनिया में और कोई लड़की ही उपलब्ध नहीं थी !"

मिगार ने कहा—"महाराज ! अभी उसमें लड़कपन है, धीरे-धीरे हम उसे ठीक कर लेंगे। अभी तो इस उच्छृंखलता के लिए उसे क्षमा कर देना चाहिए।"

इस प्रकार जैसे-तैसे समझा-बुझाकर मिगार ने निर्ग्रन्थों को विदा किया और आप खीर लेकर खाने बैठा। विशाखा एक ओर खड़ी होकर उसे पंखा झलने लगी। इतने में एक बौद्ध भिक्षु दरवाज़े पर आ खड़ा हुआ। मिगार जहाँ बैठा हुआ खीर खा रहा था, वहाँ से वह भिक्षु दिखाई पड़ता था; फिर भी उसकी ओर बिलकुल ध्यान न दे वह अपने खाने में ही लगा रहा। तब विशाखा ने वहीं से उस भिक्षु को सम्बोधन करके कहा—"आर्य ! मेरे श्वसुर इस समय बासी भोजन कर रहे हैं। इसलिए आप यहाँ से आगे जायँ।"

विशाखा के ये शब्द सुनते ही एकदम मिगार का पारा चढ़ गया और नौकरों से उसने कहा—"यह खीर यहाँ से उठा ले जाओ और इस छोकरी को इसी समय मेरे घर से निकाल दो। भला इतनी उन्मत्तता, कि मेरे सामने ही मेरा अपमान करते हुए भी इसे शर्म नहीं आती !"

मिगार गुस्से से आग-बबूला हो गया, परन्तु विशाखा विचलित न हुई। उसने शान्ति के साथ अपने श्वसुर से कहा—"आपको मुझ-पर इतना नाराज़ नहीं होना चाहिए। मैं कोई मोल ख़रीदी हुई दासी तो हूँ नहीं। मैं भी आप ही के समान उच्चकुल में पैदा हुई हूँ। पहले आप मुझे यह बतलावें कि मेरा क़सूर क्या है, इसके बाद मुझे जाने को कहें। अकारण ही मुझपर कोई दोषारोपण न हो, इसके लिए मेरे

पिता ने यहाँ के आठ कुलीन गृहस्थों से मेरे अपराध की जाँच करने के लिए कह रक्खा है। उनके सन्मुख आप यह बतलायें कि मेरा अपराध क्या है ? यदि वे मुझे अपराधी ठहरायेंगे, तो मैं राज़ी-ख़ुशी यहाँ से निकल जाऊँगी।"

पुत्र-वधू की यह स्पष्ट बात सुनकर मिगार का दिमाग़ ज़रा ठिकाने आया। तुरतोंतुरत उसने उन आठों कुलीन गृहस्थों को बुलवाया और पुत्र-वधू का अपराध बतलाकर उसने कहा—"इसे आज के आज मेरे घर से निकाल दो !"

मिगार की बातें सुनकर गृहस्थों ने विशाखा से पूछा—"क्यों बहन ! क्या तुमने यह कहा था, कि तुम्हारे श्वसुर बासी अन्न खाते हैं ?"

विशाखा ने कहा—"मेरा आशय यह था कि मेरे श्वसुर नवीन पुण्य सम्पादन न करके पुराने पुण्य पर ही निर्वाह करते हैं, इसीलिए मैंने यह कहा था कि वह बासी अन्न खाते हैं।"

"यह कथन तो बहुत समझदारी का मालूम पड़ता है।" गृहस्थों ने मिगार से कहा—"इसीपर विशाखा को घर से निकाल देना उचित नहीं है।"

तब मिगार ने खोद-खोदकर विशाखा के और भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म दोष बतलाये, परन्तु जाँच करने पर मालूम पड़ा कि वे कोई दोष नहीं थे और मिगार को व्यर्थ ही ग़लत फ़हमी हो गई थी। फिर भी मिगार ने कहा—"इसका बाप जब यहाँ आया तो हमारे सामने उसने इसे दस नियमों की शिक्षा दी थी, परन्तु हमें तो वह केवल दिखावा

ही मालूम पड़ता है—आगे यह जाने कि इसने उनका क्या अर्थ लगाया है।"

गृहस्थों ने विशाखा से पूछा—"क्यों बहन! धनञ्जय श्रेष्ठि ने तुम्हें किस-किस नियम की शिक्षा दी थी और उनका तुम क्या अर्थ समझी हो?"

विशाखा ने जवाब दिया—"मेरे पिता ने मुझे जो शिक्षा दी उनमें सबसे पहली यह थी कि अन्दर की आग बाहर न लेजाई जाय। इसका मतलब यह है कि घर में कोई कहा-सुनी या लड़ाई-झगड़ा आदि हो तो बाहर उसकी चर्चा न की जाय। यह दूसरी शिक्षा थी कि बाहर की आग अन्दर न लाना। इसका अर्थ यह है कि अड़ोसी-पड़ोसी आदि बाहरी लोग सास-ससुर, देवरानी-जेठानी, ननद-देवर आदि की कोई बुराई करते हों तो घर में किसीसे उसकी चर्चा न करना। कोई वस्तु जो दे उसे ही लौटाई जाय, यह तीसरी शिक्षा; और जिसने न दी हो उसे न देना चौथी शिक्षा है। इनका अर्थ यह है कि कोई वस्तु किसीसे माँगी जाय तो जिसने दी हो उसीको वह लौटाई जाय, ऐसे आदमी को न दी जाय जिससे वह मिली नहीं थी। पाँचवीं शिक्षा नज़दीकी नाते-रिश्तेदारों पर लागू होती है। अपने रिश्तेदारों में कोई गरीब हो और माँगकर ली हुई चीज़ वापस करने की उसकी क्षमता न हो तो वह उसे ही दे देना, उसका आशय है। सुख से बैठना छठी शिक्षा है और सुख से भोजन करना सातवीं तथा सुख से सोना आठवीं। इनका अर्थ यह है कि अपने से बड़े जहाँ बारम्बार आते-जाते हों वहाँ न बैठा जाय; उनके खाये

बाद, नौकर-चाकरों की व्यवस्था करके खाया जाय; और अपने बड़ों के सोजाने पर, उनकी ठीक व्यवस्था करके,तब सोया जाय। अग्नि-पूजा नवीं शिक्षा है। पतिव्रता स्त्री के लिए पति अग्नि के समान पूज्य होना चाहिए और जैसे ब्राह्मण अग्नि की परिचर्या करता है इसी प्रकार उसे अपने पति की करनी चाहिए, यह इस शिक्षा का अर्थ है। और दसवीं शिक्षा है गृह-देवता की पूजा—अर्थात् सास, श्वसुर आदि गुरुजनों को गृह-देवता समझकर उनकी सेवा की जाय।"

विशाखा के पिता ने उसे जो दस शिक्षायें दी थीं उनका इस प्रकार स्पष्टीकरण करके बताने पर आठों कुलीन ब्राह्मणों ने उसकी बड़ी प्रशंसा की और मिगार श्रेष्ठि से कहा—"आप क्रुद्ध होकर ऐसी समझदार लड़की को घर से निकाल देने के लिए तैयार हुए हैं; पर सच पूछो तो यही आपके घर की लक्ष्मी है।"

आखिर मिगार ने अपनी भूल स्वीकार की और विशाखा से उसके लिए माफ़ी माँगी।

विशाखा ने कहा—"आप मुझसे बड़े और मेरे पूज्य हैं, इसलिए क्षमा करने जैसा कोई अपराध आपने किया हो, यह मैं नहीं समझती; सिर्फ़ एक बात में मेरे और आपके मेल मिलता हुआ प्रतीत नहीं होता। वह यह कि मैं तो बुद्ध की उपासिका हूँ और आप हैं निर्ग्रन्थ के उपासक; अतः भिक्षा के लिए आनेवाले बौद्ध भिक्षुओं का आना आपको अखरेगा, और मैं इन निर्ग्रन्थों को नमस्कार नहीं करूँगी। जबतक इस बारे में कोई निर्णय न हो जाय, मेरे यहाँ रहने से न आपको सुख मिलेगा और न मैं ही सुख से रहूँगी।"

मिगार ने कहा—"तुम्हारी जो इच्छा हो वैसा करना; मुझे उसमें कोई ऐतराज़ न होगा। मेरे घर में रुपये-पैसे की कोई कमी नहीं है; तुम बौद्ध भिक्षुओं को बुलाकर खिलाओगी तो उससे मैं निर्धन नहीं हो जाऊंगा। अतः मैं तो अपने निर्ग्रन्थों को अन्न-दान करूंगा और तुम यथावकाश अपने बौद्ध भिक्षुओं को अन्न-वस्त्रादि का दान करना।"

इस प्रकार समझौता होकर मामला शान्त हुआ।

दूसरे ही दिन विशाखा ने बुद्ध और उनके भिक्षु-संघ को अपने यहाँ आमंत्रित किया। निर्ग्रन्थों को इस बात का पता लगते ही तत्काल वे मिगारश्रेष्ठि के पास आये, और बौद्ध भिक्षुओं को दिये गये निमंत्रण की कैफ़ियत तलब की।

मिगार ने जवाब दिया—"मेरी पुत्र-वधू कोई छोटे-मोटे ख़ान्दान की नहीं है, उसके साथ दासियों का सा व्यवहार नहीं किया जा सकता। मुझे अपने घर को सुखी रखना हो, तो पुत्र-वधू को उचित स्वतंत्रता देनी ही चाहिए।"

निर्ग्रन्थों ने कहा—"बौद्ध भिक्षुओं को तू अपने घर आने से न रोक सकता हो तो न सही, पर इतना तो ज़रूर करना कि तू उनके दर्शन करने कभी न जाना। बुद्ध बड़ा मायावी है। हमने सुना है कि वह लोगों को मुग्ध करके अपने पन्थ में खींच लेता है। अतः विशाखा चाहे जितना आग्रह करे तो भी तू उनके दर्शन करने मत जाना।"

मिगार ने उन्हें बुद्ध या बौद्ध भिक्षुओं के दर्शन न करने का वचन दिया और तब निर्ग्रन्थ अपने स्थान को लौट गये।

दूसरे दिन विशाखा ने भोजन की सब तैयारी करके बुद्ध और भिक्षुओं को बुलाकर बड़े आदर-सत्कार के साथ उन्हें भोजन कराया। भोजनोपरान्त अपने-सहित सब घरवालों को धर्मोपदेश करने की बुद्ध-गुरु से विशाखा ने प्रार्थना की; परन्तु मिगार उपदेश सुनने नहीं आया। विशाखा के बहुत आग्रह पर आख़िर उसने परदे की आड़ में बैठकर धर्मोपदेश सुनना स्वीकार किया क्योंकि उसे तो बुद्ध का मुख ही नहीं देखना था। अतः विशाखा ने एक ओर परदा लगाकर अपने श्वसुर के बैठने की व्यवस्था की।

सबके एकत्र होजाने पर बुद्ध ने अपनी अमृतवाणी से धर्मोपदेश किया। दान, शील आदि के बारे में बुद्ध की बातें सुनकर मिगार-श्रेष्ठि बहुत प्रभावित हुआ। उसे इस बात पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि ऐसे महापुरुष के अपने घर आने पर भी मैं उनके दर्शन नहीं कर रहा हूँ। यह सोचकर उसने एकदम अपने सामने का पर्दा हटा दिया और दौड़कर बुद्ध के चरणों में जा गिरा। बुद्ध से उसने कहा—"भगवन्! मेरे अपराध क्षमा करो। आज से मैं भी आपका हूँ। इस विषय में विशाखा मेरी माता के समान है। वह यदि मेरे घर न आई होती, तो मैं आपकी अमृत-वाणी न सुन पाता। अतः आजसे मैं उसे अपनी माता ही कहा करूँगा।"

तभी से विशाखा का नाम मिगार-माता पड़ गया। श्रावस्ती के अधिकांश निवासी उसे मिगार-माता के ही नाम से ही जानते थे। बुद्ध और भिक्षुसंघ के रहने के लिए उसने पूर्वाराम नामक उद्यान में एक प्रासाद बनवाया था, जो 'मिगार-माता-प्रासाद' नाम से प्रसिद्ध

हुआ। श्रावस्ती में विशाखा की बुद्धिमत्तता एवं नीतिमत्ता की कीर्ति फैली हुई थी और राव से रंक तक सब उसे आदर की दृष्टि से देखते थे। मांगलिक कृत्यों और उत्सवों में विशाखा को सबसे पहले आमंत्रित किया जाता था। श्रावस्ती की बौद्ध उपासिकाओं में उसका प्रमुख स्थान था और वहाँ आने-जानेवाले रोगी भिक्षुओं की सार-सम्हाल पर वह बहुत ध्यान देती थी।

१२

कुलवधू

सुजाता

भगवान तथागत बुद्ध के आविर्भाव-काल में हमारा यह जम्बु द्वीप (भारतवर्ष) अंग, मगध, काशी, कोशल आदि सोलह भागों में विभक्त था। महाराज बिम्बिसार मगध के राजा थे। अंग-देश भी उन्हींकी आधीनता में था। राजा प्रसेनजित् इस समय कोशल के सिंहासन पर विराजमान् थे। बिम्बिसार और प्रसेनजित् अपने समय में धनवैभव की दृष्टि से भारतवर्ष के अन्य राजाओं से बढ़े हुए थे। उनके प्रयत्नों से मगध और कोशल महाप्रतापी एवं ऐश्वर्यशाली राज्य बन गये थे।

कोशल-राज्य की राजधानी श्रावस्ती थी। श्रावस्ती के वैभव और सौन्दर्य की सीमा न थी। अनेक सुन्दर आश्रमों, उद्यान, वन, उपवन और सरोवरों आदि से यह नगर सुशोभित था। चित्र-विचित्र और तरह-तरह की कारीगरी से सुन्दर बनी हुई बड़ी-बड़ी हवेलियां इस शहर की शोभा में और भी वृद्धि करती हुई यहाँ के निवासियों की समृद्धि को ज़ाहिर करती थीं। नगरनिवासियों की आकर्षक कान्ति, उनके विशाल उन्नत शरीर, रमणीय और उज्ज्वल

मुखारविन्द—इन सबके कारण नगर की शोभा में और भी सौगुनी वृद्धि हो रही थी।

इस नगर में सुदत्त नामका एक वणिक रहता था, जो श्रावस्ती में सब से ज्यादा धन-वैभववाला था। दान-पुण्य भी वह खूब करता था। भारतभर में उसका व्यापार फैला हुआ था। हरेक बड़े शहर में उसकी दुकान थी और सदाचारी, उदार, असाधारण दानी एवं परमधार्मिक पुरुष के रूप में श्रावस्ती में वह बहुत ही लोकप्रिय हो गया था। विद्वान् और सदाचारी ब्राह्मणों पर भी उसका विशेष प्रेम था, जिससे वे भी उसकी बड़ी प्रशंसा करते थे।

मोक्षमार्ग के शोधक, परम शान्ति, परम सुख एवं निर्वाणधर्म के प्रवर्त्तक स्वयं भगवान् बुद्धदेव के मुँह से उनके अमृतमय धर्म और संघ की कथा सुदत्त ने राजगृह में अपनी बहन के घर सुनी थी। उस उपदेश से संसार के दुःख और ताप से क्लेश पाये हुए सुदत्त के हृदय को अवर्णनीय शान्ति मिली थी। उसी दिन से उसके हृदय में सुख की एक अपूर्व रेखा उत्पन्न हुई थी और उसने संकल्प किया था कि मैं अपनी इस अगाध सम्पत्ति का उपयोग बुद्ध-धर्म के प्रचार में करूँगा, और अपना शेष जीवन धर्म-चिन्तन तथा साधुओं की सेवा में बिताऊँगा।

बुद्धदेव पर उसकी अटूट श्रद्धा और अटल भक्ति थी, चौरासी करोड़ कार्षापण (उस समय की एक स्वर्ण मुद्रा जो आजकल के पांच रुपयों के बराबर होती थी) खर्च करके उसने श्रावस्ती की उत्तर दिशा में जेतवन नामक परम रमणीय उद्यान में एक बड़ा भारी

विहार बनवाया था। इस सुन्दर विहार को उसने बुद्धदेव तथा उनके शिष्यों की भेंट कर दिया। दो हज़ार भिक्षु नित्य उसके यहाँ भोजन करते थे और अगिनती दीन-दुखी-अनाथ उसके दरवाज़े पर अन्न प्राप्त करके उसे आशीर्वाद देते थे। प्रतिदिन अनाथों को आहार देने के कारण उसका नाम ही 'अनाथ पिण्डद' पड़ गया था।

भगवान बुद्धदेव की उपासिकाओं में विशाखा सर्वप्रमुख थी। उसके समान दानशील सेविका इस समय और कोई नहीं थी। श्रावस्ती नगर की पूर्व दिशा में उसने २७ करोड़ कार्पापण ख़र्च करके पूर्वाराम नामका एक परम रमणीय विहार बनवाकर बुद्धभगवान् की भेंट किया था। उसके पिता मेंडक अंगदेश के भद्रीय नगर के धन-ऐश्वर्य से युक्त एक प्रसिद्ध सेठ थे। और श्रावस्ती नगर के एक धनवान् सेठ मिगार के पुत्र पुण्यवर्धन के साथ उसका विवाह हुआ था।

हमारी चरित्र नायिका सुजाता उस विशाखा की ही छोटी बहन थी। अनाथपिण्डद के पुत्र के साथ उसका विवाह हुआ था। धनवान सेठ की कन्या होने से, सुजाता को अपने मन में बड़ा अभिमान था। वह किसीका कहना न मानती, सास-ससुर को कुछ न समझती और अपने पति पर भी उसकी कोई श्रद्धा नहीं थी।

एक दिन, अनाथपिण्डद के निमंत्रण को स्वीकार करके, बुद्धदेव उसके यहाँ भिक्षा लेने गये। उनके उपयुक्त आसन आदि सामग्री की तैयारी तो उनके आने से पहले ही करली गई थी। भगवान् के आने पर अनाथपिण्डद ने उनका स्वागत करके उन्हें आसन पर बिठाया और आप उनके सामने बैठ गया। इस समय उनके अन्तःपुर में

बड़ी गड़बड़ मच रही थी। कहा-सुनी इतनी ज़ोर से हो रही थी कि बाहर तक उसकी आवाज़ सुनाई पड़ती थी। अतः भगवान् ने पूछा—"श्रेष्ठी ! घर में इतनी अधिक गड़बड़ क्यों है ? यहाँ तो ऐसा कोलाहल मच रहा है, जैसे किसी मछली पकड़नेवाले की मछली चोरी चली जाने पर मचा करता है।" तब अनाथपिण्डद ने दिल खोलकर बुद्धदेव से अपने दुःख की बात कही। उसने कहा—"भगवन् ! आपका कहना ठीक है, पर मैं लाचार हूँ। मेरी एक पुत्र-वधू बड़े घर की बेटी है। वह किसीको कुछ गिनती ही नहीं। वह इतनी अभिमानी है कि अपने पति को भी कुछ नहीं समझती। सास-ससुर का अपमान करती है और भगवान् पर भी उसका अनुराग नहीं है। पूजा भी वह किसी दिन नहीं करती, उसीके आचरण से तंग आकर अन्तःपुरवासी स्त्रियाँ हल्ला-गुल्ला मचा रही हैं।"

भगवान् ने यह सुनकर अनाथपिण्डद से कहा—"सुजाता को यहाँ बुलाओ।" भगवान् की आज्ञा को स्वीकारकर सुजाता बाहर आई और भगवान् को प्रणाम करके दूर जा बैठी। भगवान् ने उसे सम्बोधन करके कहा—"सुजाता ! पत्नियाँ सात प्रकार की होती हैं:—(१) वधिक-समा (हत्यारी), (२) चोर समा (चोर) (३) आर्य-समा (४) मातृ-समा (५) भगिनी-समा (६) सखी-समा और (७) दासी के समा। बता, तू इनमें से कैसी है ?"

सुजाता ने कहा—"भगवन् ! मैं आपके इस संक्षिप्त उपदेश का मर्म नहीं समझी। आप सीधी-सादी भाषा में खुलासा करके समझाइए, तब समझ-बूझकर मैं आपको जवाब दूँगी।"

भगवान् ने कहा—"तब ध्यान देकर सुन।"

सुजाती—हाँ; सुनती हूँ; आप कहिए।

भगवान ने कहा—"जो स्त्री सदा क्रोध किया करे, स्वामी का बुरा चाहे, पर-पुरुष पर मोहित होकर पति का अपमान करती हो, धन द्वारा ख़रीदी हुई होने पर भी जो अपने ख़रीदनेवाले की हत्या करने को उत्सुक हो, ऐसी स्त्री को *वधिक समा* या *हत्यारी पत्नी* कहते हैं।

"शिल्प, व्यापार या खेती से पति जो कमाई करे उसमें से थोड़ा बहुत भी धन चुराने की जो स्त्री इच्छा करती है और मौक़ा मिलने पर चुरा भी लेती है, यही नहीं बल्कि चूल्हे पर चढ़ाये हुए दाल-चावल में से भी जो छिपाकर रख लेने का प्रयत्न करती है, उसे *चोर-समा पत्नी* कहते हैं।

"जो स्त्री कोई काम नहीं करना चाहती, आलसी स्वभाव की होती है, अच्छा खाये-पिये और पहने-ओढ़े बग़ैर जिसे चैन नहीं पड़ता, जिसके व्यवहार में कर्कशता है, जिसकी प्रकृति उग्र है, जो दूसरों के साथ अप्रिय एवं कर्कश व्यवहार करती है पति को अपना बड़प्पन दिखाती है, वह *आर्य-समा पत्नी* कहलाती है।

"जो स्त्री सदा अपने पति का हित-चिन्तन करती है, जैसे माता पुत्र की रक्षा के लिए अपने प्राणों की भी पर्वा नहीं करती उसी प्रकार अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर भी जो अपने पति की रक्षा करती है, जो पति के कमाये हुए धन की यत्नपूर्वक रक्षा करती है, वह *मातृ-समा पत्नी* कहलाती है।

"जो स्त्री बहन की तरह अपने पति पर स्नेह-भक्ति रखती है

और लज्जापूर्वक उसके आज्ञानुसार चलती है, वह *भगिनी-समा पत्नी* कहलाती है।

"बहुत दिनों बाद आई हुई सखी को देखकर किसी सखी को जैसा आनन्द होता है उसी प्रकार जो स्त्री पति को देखते ही आनन्द में मग्न हो जाय और जो अपने कुटुम्ब के गौरव की रक्षा करनेवाली शीलवती एवं पतिव्रता होती है, उसे *सखी-समा पत्नी* कहते हैं।

पति यदि अपनी स्त्री को मार डालने के लिए भी उतारू हो जाय फिर भी जो स्त्री अपने पति का यह बरताव शांति और धीरज से सहन करती है, जो पति पर ज़रा भी क्रोध नहीं करती, जो स्वभाव से ही क्रोध रहित होती है और अपने पति की अनुगामिनी होती है वह स्त्री *दासी-समा पत्नी* कहलाती है।

"इनमें से हत्यारी, चोर और आर्य समा पत्नियाँ शील-हीन, कर्कशा स्वभाववाली एवं स्नेह-शून्य होती हैं। मृत्यु के बाद उन्हें नरक मिलता है। माता, भगिनी, सखी और दासी-समा पत्नियाँ शीलवती, संयमी और सदा अच्छे कामों में लगी रहनेवाली होती हैं। मृत्यु के बाद उन्हें स्वर्ग प्राप्त होता है।

"सुजाता ! अब बता, इन सात में तू किस प्रकार की पत्नी है ?"

सुजाता ने नम्रता के साथ जवाब दिया—"भगवन् ! आज से आप मुझे अपने पति की दासी समझिए।"

इसके बाद अनाथपिण्डद ने भगवान को नाना प्रकार के स्वादिष्ट भोजन अपने हाथों परोसकर खिलाये। भोजनोपरान्त भगवान वापस जेतवन के विहार में चले गये।

सुजाता ने इसी दिन से अपने सास-ससुर पर भक्ति रखते हुए उनकी सेवा-टहल करना आरम्भ कर दिया। पति के प्रति अत्यन्त श्रद्धा, भक्ति और प्रेम रखते हुए छाया के समान वह उसके वशीभूत हो गई। दास-दासियों को अपने बच्चों की तरह प्रेम करने लगी। फलतः घर के सब आदमी अब उसके आचरण से सन्तुष्ट रहने लगे और पास-पड़ौसवाले भी उसके सरल-स्नेह एवं कोमल स्वभाव से मुग्ध होने लगे।

सुजाता को बुद्ध ने जो उपदेश दिया, उसपर से यह समझा जा सकता है कि स्त्री-जाति के प्रति भगवान बुद्ध का कितना प्रेम था। स्त्रियों को उन्होंने जो अमृतमय उपदेश दिया है उसपर सर्वसाधारण स्त्रियाँ ध्यान दें तो देश को बड़ा लाभ हो। हमारी माँ-बहनें उनके अमृतमय उपदेश के अनुसार चलें तो संसार के अनेक पाप-ताप से बच जायँगी और संसार उनके लिए शान्ति-निकेतन बन जायगा। आपस में मेल-जोल न होने के कारण जिन कुटुम्बों में कलह की अग्नि सुलग रही हो वहां यदि बुद्ध भगवान के इस उपदेश का स्मरण किया जाय तो अपूर्व शान्ति-सुधा की वर्षा होगी। इस उपदेश का ही प्रभाव था कि जो सुजाता एक समय सबकी बुरी थी, उसीने आगे चलकर महासाध्वी के रूप में खूब ख्याति प्राप्त की। आशा है, हमारी बहनें इसके चरित्र से समुचित शिक्षा ग्रहण करेंगी।

१३

पति को उपदेश देनेवाली

नकुलमाता

नकुलमाता बुद्ध-धर्म की एक मुख्य उपासिका थी। इसने अपने पति को उपदेश दिया था, जो बड़ा बोधप्रद है। अपनी ऐसी योग्यता के कारण ही इसने उपासिकाओं में अग्रस्थान प्राप्त किया था।

बुद्धदेव भर्ग देश के शिशुमारगिरि में निवास कर रहे थे, उस समय की बात है। नकुल पिता नामक एक गृहस्थ बहुत बीमार हो गया और सबको ऐसा प्रतीत होने लगा कि अब इसका मृत्युकाल आ पहुँचा। तब, अपने पति को मरणोन्मुख देखकर, उसकी पत्नी नकुलमाता ने उससे कहा :—

"स्वामी ! संसार में आसक्त रहकर आपकी मृत्यु हो, यह ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसी प्रपंचासक्तियुक्त मृत्यु दुःख कारक है, ऐसा भगवान् ने कहा है।

"कहीं आपके मन में यह शंका तो नहीं है कि 'मेरे मरने पर नकुलमाता बालकों का लालन-पालन और जीवन-निर्वाह नहीं कर सकेगी ?' यदि ऐसी बात हो तो, इस शंका को आप अपने मन से

निकाल दीजिए। क्योंकि मुझे सूत कातना आता है, और ऊन भी तैयार कर सकती हूं; इनके द्वारा मैं आपके बाद बालकों का भरण-पोषण कर सकूँगी।"

"आपको यह शंका होना भी संभव है कि 'मेरी मृत्यु के बाद नकुलमाता पुनर्विवाह तो नहीं कर लेगी?' परन्तु इस शंका को भी आप अपने मन से निकाल दें। यह आपको मालूम ही है कि आज सोलह-वर्ष से में 'उपोसथ व्रत' (गृहस्थ में रहते हुए ब्रह्मचर्य) का पालन कर रही हूँ; तब भला आपके मरने पर पुनर्विवाह क्यों करूँगी? आपकी मृत्यु के बाद मैं बुद्ध भगवान् और भिक्षुसंघ का धर्मोपदेश सुनने नहीं जाऊंगी, यह भी शंका हो सकती है। परन्तु आप यह विश्वास रक्खें कि आपके पीछे भी मैं इसी प्रकार बुद्धोपदेश सुनूंगी। रही यह शंका कि आपके पीछे मैं बुद्ध भगवान् के उपदेशानुसार शील का यथार्थ पालन करूँगी या नहीं? सो इस बात का आप पूर्ण विश्वास रखिए कि उत्तम शीलवाली जो बुद्धोपासिकायें हैं, मैं भी उन्हींमें से एक हूँ। इसी प्रकार यह शंका भी आप अपने मन से निकाल दें कि मुझे समाधि लाभ नहीं हुआ है इसलिए आपकी मृत्यु से मैं बहुत दुःखी होऊँगी। क्योंकि समाधि लाभवाली जो बुद्धोपासिकायें हैं उन्हींमें की एक मैं भी हूँ। और यदि ऐसी कोई शंका आपके मन में हो कि अभी मैं बुद्ध-धर्म का तत्त्व नहीं समझ पाई हूँ, तो उसे भी निकाल डालिए; क्योंकि जो तत्त्वज्ञ उपासिकायें हैं उन्हींमें मैं भी हूँ।

"यह सब सोचकर, किसी भी तरह की कोई चिन्ता आप न करें; और अपने मन को शंका और आसक्ति से बिल्कुल मुक्त करलें।"

नकुलमाता के इस बोध-प्रद उपदेश से उसके पति नकुलपिता का समाधान हो गया और उसकी सारी शंका और चिन्तायें निर्मूल हो गईं। फलतः यथा समय उसका रोग भी दूर हो गया। रोग मुक्त होने के बाद वह बुद्ध के दर्शनों को गया, तब बुद्ध ने उससे कहा—"गृहपति! तू बड़ा पुण्यवान् है, जो नकुलमाता जैसी उपदेश देने और तुझपर प्रेम रखनेवाली स्त्री तुझे पत्नी के रूप में प्राप्त हुई है। उत्तम शीलवाली जो उपासिकायें हैं वह भी उन्हीं में से एक है। तुझे ऐसी पत्नी प्राप्त हुई है, यह तेरा सौभाग्य है।"

नकुलमाता की कथा तो बोधप्रद है ही, पर इसपर से यह भी समझा जा सकता है कि बुद्ध भगवान् स्त्रियों की योग्यता की कितनी क़दर करते थे। साथ ही यह भी कल्पना की जा सकती है कि जिसको बुद्ध भगवान् जैसे महाज्ञानी, तपस्वी और सिद्ध राजर्षि ने इतने उत्तम शब्दों में बखान किया उस विदुषी में कितने अधिक गुण हैं।

१४

तत्त्व-पिपासु चिरकुमारी

क्षेमा

भगवान् बुद्धदेव श्रावस्ती में थे, उस समय प्रसेनजित् और ब्रह्मदत्त नामक दो राजाओं में किसी बात पर कहा-सुनी हो गई और वाद-विवाद ने बढ़ते-बढ़ते ऐसा रूप धरण कर लिया कि उन दोनों के बीच युद्ध होने कि नौबत आ गई। संयोगवश इसी समय प्रसेनजित् के यहाँ कन्या और ब्रह्मदत्त के यहाँ पुत्र का जन्म हुआ। दोनों राजाओं ने एक-दूसरे को सूचित किया कि यदि इन दोनों बालकों का आपस में विवाह हो जाय तो हमारा झगड़ा मिट-कर फिर से हमारे बीच मित्रता हो सकती है। इसपर दोनों सहमत हो गये और युद्ध की तैयारियाँ बन्द करदीं।

इस प्रकार बिलकुल शैशवावस्थामें, माँ की गोद में ही, प्रसेनजित् की कन्या और ब्रह्मदत्त के पुत्र की सगाई (विवाह-सम्बन्ध का निश्चय) होगई।

प्रसेनजित् की कन्या का नाम क्षेमा रक्खा गया और प्रसेनजित् ने उसे धर्म तथा नीति की ऊँची शिक्षा दी। परन्तु जब वह बड़ी हुई और विवाह के क़ाबिल होगई तो उसने स्पष्ट रूप से कह दिया कि

"मैं विवाह नहीं करूँगी मैं तो जीवन-पर्यन्त कुमारी रहकर धर्मशास्त्र का अध्ययन करना चाहती हूँ।"

कन्या की ऐसी प्रतिज्ञा सुनकर प्रसेनजित् गहरे विचार में पड़ गया। उसे मन में यह चिन्ता होने लगी कि ब्रह्मदत्त के मन में ज़रूर यह सन्देह होगा कि मैंने ही क्षेमा को ऐसा बहाना करने के लिए कहा है। बड़ी मुश्किल से तो मैंने झगड़े का अन्त किया था, उसमें फिर यह गड़बड़ कहाँ से आ खड़ी हुई, जिसका कोई ख़याल भी नहीं था।

इस प्रकार के विचारों से प्रसेनजित् परेशान हो गया और उसने गुप्तरूप से ब्रह्मदत्त को पत्र लिखा, कि तुम जल्दी से आकर अपने पुत्र के साथ क्षेमा का विवाह करालो।

तत्त्वज्ञान की प्यासी क्षेमा को किसी प्रकार इस बात का पत चल गया। अतः तुरन्त ही वह भगवान् बुद्धदेव के पास चली गई। भगवान् बुद्ध इस समय जेतवन में विराजमान थे। उन्होंने देखा कि क्षेमा सचमुच तत्त्वज्ञान और धर्मोपदेश पाने के योग्य है, अतः उन्होंने उसे उपदेश देना आरम्भ कर दिया। बुद्धदेव के उपदेश के प्रभाव से क्षेमा ने बौद्ध धर्म का तत्त्व जान लिया और षड्रिपुओं के प्रलोभन को दबाने में समर्थ हो गई। इस प्रकार वह एक आदर्श विदुषी और साध्वी बन गई।

कुछ समय बाद क्षेमा के नाते-रिश्तेदार आश्रम पहुँचे और वहाँ से बलपूर्वक उसे घर ले गये। प्रसेनजित् ने उसके विवाह की तैयारियाँ भी शुरू कर दीं। धीरे-धीरे विवाह का दिन भी आ पहुँचा। पुरोहित ने वर-कन्या के हाथ पकड़कर दोनों को विवाह के पवित्र बन्धन में

शुद्ध करने के लिए मंत्रोच्चार भी आरम्भ कर दिया। अकस्मात् इसी समय जिस सुन्दर चौकी पर क्षेमा बैठी थी उस समेत धीरे-धीरे ऊँची उठती हुई आकाश की ओर जाने लगी, यही नहीं वल्कि आकाश में ऊँची पहुँच जाने पर उसने और भी तरह-तरह के चमत्कार दिखलाये। तब सबको क्षेमा की अपूर्व शक्ति और सिद्धि का पता लग गया। विवाह-मण्डप में बैठे हुए सब स्त्री-पुरुष यह दृश्य देख अवाक् और स्तब्ध हो गये। सबने विनय के साथ प्रार्थना करके क्षेमा को आकाश से नीचे उतारा। अब भला किसकी हिम्मत थी, जो उससे विवाह की वात करता? फलतः विवाह रुक गया और क्षेमा पिता की आज्ञा लेकर पुनः तपस्या करने चली गई।

प्राणायाम आदि यौगिक क्रियाओं के द्वारा क्षेमा ने आकाश में ऊपर उठने की शक्ति प्राप्त की थी, यह निस्सन्देह है। परन्तु यह तो वहुत मामूली सिद्धि है। जैसे कि भगवान् बुद्ध स्वयं अपने श्रीमुख से कह गये हैं, क्षेमा ने जो शिक्षा प्राप्त की थी वह आकाश में चढ़ने से भी कहीं ज़्यादा प्रशंसनीय है। निर्वाण क्या है, मृत्यु के बाद आत्मा की क्या दशा होती है, इत्यादि तत्त्वों का रहस्य क्षेमा ने अपने पिता प्रसेनजित् को बड़ी अच्छी तरह समझाया था। ऐसी कन्या सचमुच धन्य है!

१५

वारांगना से परिव्राजिका

कुवलया

एक बार 'गिरिबन्धु संगम' के दिन श्रावस्ती नगर में खूब समारोह हो रहा था। दूर-दूर के स्त्री-पुरुष इस समारोह में शामिल होने के लिए, श्रावस्ती में एकत्र हुए थे। इस अवसर पर दक्षिण की ओर से एक वारांगना भी वहां आई। कुवलया उस वारांगना का नाम था। भरी सभा में आकर उसने कहा—"क्या यहाँ ऐसा भी कोई पुरुष है, जो मेरे सौन्दर्य से आकर्षित न हो?"

सचमुच कुवलया अत्यन्त सुन्दर थी, अपसरा के समान अपूर्व उसका सौन्दर्य था। अनेक पुरुष उसके सौन्दर्य-जाल में फँसकर सर्वनाश को प्राप्त हो चुके थे। ऐसी दशा में यदि उसके मुंह से ऐसी अहंकार युक्त बात निकली, तो इसमें अस्वाभाविक कुछ नहीं था।

वारांगना कुवलया की ऐसी अनोखी बात सुनकर सबकी दृष्टि उस पर जा लगी। सहसा समारोह में आये हुए एक पुरुष ने कुवलया को जवाब दिया—"हाँ, है। गौतम नाम का एक श्रमण अवश्य ऐसा है।"

यह सुनना था कि कुवलया तुरन्त जेतवन को चल दी। वहाँ सामने ही बुद्धदेव तपस्या में निमग्न थे। कुवलया ने बुद्धदेव के आगे अपने सौन्दर्य का प्रदर्शन और वेश्या के योग्य नाज़-नख़रे करके

बुद्धदेव का मन डिगाने का प्रयत्न किया, परन्तु जैसे कुवलया का शारीरिक सौन्दर्य अनुपम था वैसे ही बुद्धदेव का आध्यात्मिक सौन्दर्य भी अनुपम था, अतः बुद्धदेव पर उसका कोई असर न हुआ। यही नहीं बल्कि कहते हैं, बुद्धदेव की मानवोपरि शक्ति के प्रभाव से वारांगना कुवलया का सौन्दर्य एकदम नष्ट हो गया। रूप-लावण्य और भरपूर जवानी से मस्त बनी हुई वह तरुणी एकदम अस्सी बरस की बुढ़ी डोकरी बन गई। उसके शरीर पर झुर्रियाँ पड़ गईं और मुँह बेडोल भयावना हो लया।

बुद्ध भगवान जैसे पुण्यात्मा के संम्पर्क में आने के साथ ही इस वारांगना को अपने पिछले पापकृत्यों का पश्चात्ताप होने लगा; और उस पश्चात्ताप की अग्नि से उसको हृदय में शूल चुभने लगे। अतः तुरन्त वह बुद्धदेव के चरणों में गिर पड़ी और उन्हें साष्टांग प्रणाम करके अपने पापों के प्रायश्चित्त का उपाय बताने की प्रार्थना की। उसका हृदय शान्ति पाने के लिए छटपटाने लगा।

बुद्धदेव तो सच्चे अर्थों में महत्मा ठहरे। उन्हें कुवलया पर बड़ी दया आई और स्वयँ ही उन्होंने उसे उपदेश देना आरम्भ कर दिया। बुद्धदेव के उपदेश से उसका चरित्र बिलकुल सुधर गया और उनकी शिक्षा से थोड़े ही समय में वह परम-विदुषी बन गई। इस प्रकार भगवान् बुद्ध के प्रभाव से कुवलया वारांगना से परिव्राजिका बनी और फिर बुद्ध परिव्राजिका के रूप में जन-सेवा करके अच्छी ख्याति प्राप्त की।

खेमा (क्षेमा)

खेमा मद्रदेश के राजा के घर पैदा हुई थी। जन्म से ही इसका शरीर सुन्दर और कान्तियुक्त था। माता-पिता की यह बड़ी लाड़ली थी। विवाह योग्य वय की होने पर तो इसका सौन्दर्य और भी खिल उठा। इसके रूप की प्रशंसा सुन-सुनकर, अनेक क्षत्रिय राजकुमार इसके साथ विवाह करने के अभिलाषी हुए। इसके लिए मद्राधिपति के पास उनके प्रस्ताव भी पहुँचे। यहाँ तक कि कौशलदेश के लोकप्रिय राजा बिम्बिसार ने भी खेमा से अपने विवाह की इच्छा प्रदर्शित की।

राजा बिम्बिसार बुद्धदेव का परमभक्त था। घर छोड़कर जंगल को चल देने पर राजगृह नगर में बुद्धदेव के साथ उसकी मुलाक़ात हुई थी और बोधिसत्त्व (बुद्धदेव) को समझा-बुझाकर वापस संसार में लाने का उसने प्रयत्न किया था परन्तु बुद्धदेव ने अपना परिचय देकर, घर-बार छोड़ने का उद्देश बतलाते हुए, कहा कि 'मैं मानव-जाति को दुःख-मुक्त करने का उपाय ढूँढना चाहता हूँ।' तब उसने उन्हें जाने दिया और प्रार्थना की, कि "राजकुमार! तुम्हें जगत् के उद्धार का मार्ग मिल जाय, तो सबसे पहले मेरा विहार-दान स्वीकारना

होगा।" गौतमबुद्ध के प्रथम श्रावक के रूप में उसकी गणना थी। ऐसे योग्य राजा का आग्रह देख, मद्रराज ने अपनी गुणवती कन्या उसे ब्याह दी। तब खेमा या क्षेमा कोशलेश की पटरानी हुई।

अब क्षेमा के सुख का क्या कहना था! योग्य पति प्राप्त होने से इसके सद्गुणों का भी विकास हुआ। और पति-पत्नी निर्विघ्न सांसारिक सुखों का उपभोग करने लगे।

बिम्बिसार और क्षेमा को इस प्रकार सांसारिक सुख-भोग करते हुए कई वर्ष व्यतीत हो चुके थे तब सिद्धि प्राप्त करके अपने एक सहस्र शिष्यों के साथ बुद्धदेव राजगृह आये। राजा बिम्बिसार उनके दर्शनों को गया, और आग्रह के साथ भगवान् को अपने घर आकर भोजन करने के लिए निमंत्रित किया। बुद्धदेव के राजमहल में पधारने पर बिम्बिसार ने वेणुवन नाम का अपना सुन्दर उपवन तथा विहार बुद्ध-देव और उनके भिक्षु-संघ को भेंट कर दिया। इस वेणुवन में बुद्धदेव ने बहुत समय तक निवास किया था।

क्षेमा ने बुद्धदेव के गुणों और उपदेश की प्रशंसा तो बहुत सुनी थी, परन्तु स्वयं कभी उनके दर्शन करने नहीं गई थी; क्योंकि उसे अपनी सुन्दरता का बड़ा भारी अभिमान था और बुद्धदेव को सौन्दर्य के प्रति न केवल कोई अभिरुचि ही नहीं थी प्रत्युत् वह अपने भाषणों में सौन्दर्य की अनेक बुराइयां भी बतलाते थे, इससे क्षेमा को यह आशंका रहती थी कि जिस मेरे रूप-सौन्दर्य की सब कोई प्रशंसा करते हैं उसमें कहीं भगवान् कोई ऐब न लगादें। अपने इसी विचार के कारण, जब कभी वेणुवन जाने का अवसर आता, तभी कोई-न-

कोई बहाना निकालकर यह उस बात को उड़ा देती थी। दूसरी ओर राजा बिम्बिसार यह सोचता कि मैं तो बुद्धदेव का परमभक्त हूँ, मुझपर कृपा करके गुरुदेव (बुद्ध) मेरे उद्यान में ठहरे हुए हैं, परन्तु मेरी पटरानी उनके दर्शनों को भी नहीं जाती, यह कैसी अनुचित बात है? अतः किसी प्रकार ऐसा कोई उपाय करना चाहिए, जिससे महारानी के मन से सौन्दर्य का मोह निकल जाय और गौतमबुद्ध में श्रद्धा उत्पन्न हो। आख़िर उसने एक उपाय ढूँढ निकाला। अपने दरबार के भाट-चारणों को बुलाकर उसने कहा—"वेणुवन के सौन्दर्य पर तुम मधुर कवितायें बनाओ और उन्हें इस प्रकार मीठे स्वर से गाओ, जो रानी के कानों में उनकी भनक पड़े।"

एक तो वेणुवन पहले ही रमणीक स्थान था, फिर कविता में कल्पना ने उसे और भी ऊँचा चढ़ाया। यह सब जानते ही हैं कि संगीत और कविता का असर पाषाण-हृदय पर भी होता है। अतः भाटों के मुँह से वेणुवन की प्रशंसा के गीत सुनकर रानी के मन में भी उस सुन्दर उद्यान को देखने की उत्कंठा हुई और इसके लिए उसने राजा से कहा। राजा तो यह चाहता ही था, उसने खुशी के साथ अपनी रज़ामन्दी प्रकट की; परन्तु साथ ही यह भी कहा कि "यह ख़याल रखना, वेणुवन जाती हो तो फिर भगवान् बुद्धदेव के दर्शन किये बग़ैर मत आना।" क्षेमा ने कोई उत्तर नहीं दिया, परन्तु राजा ने अपने नौकरों को समझा दिया था कि "रानी अपने आप बुद्धदेव के दर्शन करने जाय तब तो कोई बात ही नहीं, परन्तु ऐसा न हो तो तुम उनसे कहना कि 'आपको बुद्ध के दर्शनों को लेजाने की हमें राजा

ने आज्ञा दी है।' जैसे भी हो उन्हें बुद्ध भगवान् के दर्शन कराकर ही वापस लाना।"

रात-दिन अन्तःपुर में ही रहनेवाली महारानी क्षेमा इस रमणीय बाग़ को देखकर बड़ी प्रसन्न हुई। उसके मन को इससे बड़ी शान्ति मिली। पक्षियों के मधुर गान से उसके कान तृप्त हो गये और काफ़ी दूर तक चली जाने पर भी उसे थकावट महसूस नहीं हुई। जब वहाँ से लौटने लगी तो नौकर उसे ऐसे रास्ते लाये, जहाँ बुद्धदेव विराजमान् थे। बुद्धदेव ने उसे अपनी ओर आते देखकर अपनी ऋद्धि के ज़ोर से एक स्वर्गीय सौन्दर्यवाली पुतली खड़ी कर दी, जो हाथ में पंखा लेकर बुद्धदेव पर हवाकर रही थी। इस दृश्य को देखते ही क्षेमादेवी के मन में विचार उठा—"मुझ से भी कहीं ज़्यादा सौन्दर्य वाली यह सुन्दरी तो बुद्धदेव की इस प्रकार सेवा कर रही है और मैं उनके दर्शनों तक को नहीं गई! धिक्कार है मेरी इस ज़िन्दगी को।" फिर क्या था, क्षण मात्र में रूप-सौन्दर्य का सारा अभिमान नष्ट हो गया। उसकी समस्त प्रवृत्तियाँ बाह्य सुख से हटकर अन्तर्मुखी हो गईं। बुद्धदेव के पास जाकर उसने उनके चरण छुए। कुछ देर बाद उसने देखा कि पूर्वोक्त तरुण स्त्री मध्यम अवस्था को प्राप्त हो गई है। फिर थोड़ी देर बाद वह बुढ़िया डोकरी जैसी दिखाई दी। उसका रूप नष्ट हो चुका था; शरीर पर कान्ति नहीं थी; बाल सफ़ेद हो गये थे; शक्ल बिगड़ गई थी; ताक़त बिलकुल न रही थी; दाँत टूट चुके थे; कमर झुक गई थी। और कुछ देर बाद देखा तो उस बुढ़िया की मृत्यु हो चुकी थी।

यह सब देखकर अपने रूप के आगे संसार को तुच्छ समझने वाली अभिमानिनी क्षेमा सोचने लगी—"क्या मेरे शरीर की भी अन्त में यही दशा होगी? ओह, मैं कितनी मूर्ख हूँ, जो अज्ञान ही अज्ञान में अपनी इतनी आयु खोदी!" आख़िर उसने बुद्धदेव की शरण ली। बुद्धदेव ने उसे उपदेश देकर धर्म का रहस्य समझाया। क्षेमा तीव्र बुद्धिवाली और विदुषी तो थी ही, अहंकार का परदा हट जाने से, अब उसको ज्ञान-मार्ग में प्रवेश करते देर न लगी। कुछ समय बाद संसार के प्रति उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ, और विधिपूर्वक उसने थेरी-पद ग्रहण कर लिया। थेरी होकर उसने एक गाथा गाई, जिसमें कहा गया है कि "जैसे मकड़ियां अपने ही तैयार किये हुए जाल में फँसती हैं वैसे ही भ्रमवश ऐहिक सुख में ही लिप्त रहनेवाले लोग जन्म-मरण के चक्कर में फँसते हैं; परन्तु निर्लिप्त लोग इस प्रवाह को पारकर प्रव्रज्या ग्रहण करके काम से होनेवाले दुःख का नाश करते हैं।" इसके बाद अर्थ, धर्म, निरुक्ति और प्रतिभान नामक चार प्रकार का ज्ञान प्राप्त किया। 'परिसंभिदाशास्त्र' में पूर्ण पारंगत होकर 'अर्हत्' पद पाया और फिर बुद्धदेव की इच्छानुसार प्रव्रज्या लेने के लिए पति की आज्ञा प्राप्त करने गई।

राजा उसे देखते ही समझ गया कि रानी को 'अर्हत्' पद प्राप्त हो गया है, फिर भी उसने पूछा—"क्यों, बुद्धदेव के दर्शन कर आई?"

रानी ने कहा—"आप बारम्बार भगवान बुद्ध के दर्शन करने जाते हैं, परन्तु वे ऊपरी दर्शन ही होते हैं; मैंने पूरी तरह उनके दर्शन किये हैं और आपकी अपेक्षा अधिक अच्छी तरह उन्हें

पहचान सकी हूँ। अब महाराज! आप मुझे प्रव्रज्या लेने की अनुमति दीजिए।"

यह परीक्षा का समय था। असाधारण रूपवाली पत्नी और प्रेमी पति से सदा के विछोह का यह प्रसंग था। परन्तु, राजा ने "अच्छा।" कहकर तुरन्त अनुमति देदी और सोने की पालकी में बिठाकर उसे भिक्षुणी-संघ के निवास स्थान में पहुँचा आया। बुद्धदेव ने क्षेमा के गुणों की परीक्षा करके 'महाप्रज्ञावती' की उपाधि से उसे विभूषित किया।

थेरी हो जाने के बाद भी क्षेमा के असाधारण रूप-लावण्य के कारण उसे कुमार्ग की ओर प्रेरित करने का पापियों ने बहुत प्रयत्न किया, परन्तु किसी भी प्रकार के प्रलोभन में न फँसते हुए इसने शुद्ध ब्रह्मचर्य युक्त पूर्ण सात्विक जीवन ही व्यतीत किया।

बुद्धदेव ने आदर्श भिक्षुणियों में इसकी गणना की है और थेरी-गाथा में १३६ से १४४ तक के श्लोक इसके बनाये हुए हैं।

१७

उत्पलवर्णा

उत्पलवर्णा, भगवान् बुद्ध के समय, श्रावस्ती में एक साहूकार के यहाँ पैदा हुई थी। इसके शरीर का रंग नीलोत्पल (नीला कमल) के अन्नगर्भ जैसा तेजस्वी और कान्ति युक्त था, इसलिए पैदा होने के साथ ही माता-पिता ने इसका नाम उत्पलवर्णा रख दिया था।

ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, यह शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की तरह बढ़ने लगी; और वयःप्राप्त होने पर इसका सौन्दर्य, खासकर इसका कमल जैसा रंग, सबका ध्यान आकर्षित करने लगा। भारत के अनेक नृपतियों के राजकुमारों तथा धनीमानी व्यापारियों ने इसके पिता के पास मंगनियाँ (विवाह-सम्बन्ध के प्रस्ताव) भेजीं। यह देख इसका पिता बड़े सोच में पड़ गया। सबको खुश रखना तो संभव नहीं था। एक को खुश करने जाता तो दूसरों से दुश्मनी मोल लेनी पड़ती। इसलिए वह बड़ा परेशान रहने लगा। बहुत सोच-विचारकर उसने एक उपाय ढूँढा, पर उसपर अमल हो सकेगा या नहीं, यह उसे निश्चय नहीं था! आखिर कन्या को अपनी परेशानी बताकर उससे सलाह करने के लिए, वह अपनी कन्या उत्पलवर्णा के पास गया।

उत्पलवर्णा चतुर थी। यह वह कभी की जान चुकी थी कि उसके विवाह-सम्बन्ध को लेकर कैसी विषम स्थिति पैदा हो गई है, पर संकोचवश पिता के सम्मुख उसने यह चर्चा नहीं चलाई थी। आज जब पिता स्वयं उसके पास आया तो उसने उठकर उसका स्वागत किया और प्रणाम करके यथोचित आसन प्रदान किया। पिता की उदासी देखकर यह तो वह समझ ही गई कि पिता के हृदय पर बड़ा भारी बोझ इकट्ठा हो गया है और वह उसी बोझ को हलका करने के लिए उसके पास आया है। यह समझने में भी उसे कोई देर नहीं लगी कि यह चिन्ता आखिर है क्यों। फिर भी उसने पूछा—"पिताजी! आपको क्या हो गया है ? आज आपका मुँह क्यों उतर रहा है ?"

कन्या के कोमल और हृदयस्पर्शी शब्दों ने पिता के हृदय पर चोट की। बड़े यत्न के साथ मन को स्थिर रखकर उसने कहा— "बेटी! आजकल मैं किस परेशानी में पड़ा हुआ हूँ, मेरा खयाल है, यह तू समझ चुकी होगी। भारत के अनेक राजकुमारों और धनी- मानियों ने तेरे लिए मंगनी भेजी हैं। मैं सबकी इच्छा-पूर्ति कैसे कर सकता हूँ ? फिर तेरे जैसी सुन्दर विदुषी लड़की को मैं बिना सोचे-विचारे हर किसी को दे भी तो नहीं सकता। ऐसी दशा में तेरे विवाह को लेकर बड़ा बखेड़ा उठने की संभावना है, इसलिए मैंने एक उपाय ढूँढ़ा है।"

उत्पलवर्णा ने कहा—"कहिए, वह क्या उपाय है ? पिताजी ! आप झिझकें नहीं, जो कुछ बात हो दिल खोलकर कह दीजिए।"

पिता ने कहा—"तुझपर मेरा कैसा और कितना स्नेह है, यह तुझे मालूम है। अतः तेरे लिए यह सूचना करते हुए मेरे हृदय में

कितना दुःख होता होगा, इसकी तू कल्पना कर सकती है। मगर क्या करूँ, स्थिति को देखते हुए मुझे और कोई उपाय नहीं सूझता। बता बेटी, तू संसार छोड़कर प्रव्रज्या (संन्यास) ले सकेगी ?"

उत्पलवर्णा ने पिता की बातों को ध्यान के साथ सुना और बीच-बीच में उसके मुंह पर बदलती रहनेवाली भाव-भंगियों का भी सूक्ष्मता से अवलोकन किया। उसके कारण उसका पिता कैसी संकटापन्न स्थिति में पड़ गया है, यह वह समझ गई। अतः बड़े साहस और कुमारी-सुलभ दिव्यता से कहा—"पिता जी ! आप ज़रा भी फ़िक्र न करें। मैं कुलीन कन्या हूँ। जिसमें मेरे पिता का कल्याण हो, वही काम मुझे करना चाहिए; और वही मैं करूँगी।"

कहते हैं कि उत्पलवर्णा पूर्वजन्म में भी एक संस्कारवान् कन्या थी। अपने पूर्वजन्म में उसने गौतमबुद्ध के पूर्वावतार पद्मोत्तरबुद्ध की खूब सेवा की थी। उस समय पद्मोत्तरबुद्ध ने एक भिक्षुणी को ऋद्धि-मती कहकर अग्रस्थान दिया था। तभी से इसके मन में भी वैसा ही ऊँचा स्थान प्राप्त करने की आकांक्षा उत्पन्न हुई थी। उसी दिन से यह साधु-सन्तों की खूब सेवा करने लगी, खूब दान-पुण्य किया, और अनेक प्रकार के सत्कर्म करके मरते समय भगवान् से इसने यही प्रार्थना की कि मुझे भी ऋद्धिमती भिक्षुणी का महान् पद प्राप्त हो। यह सब जानते ही हैं कि शुभ आकांक्षा के साथ उचित प्रयत्न किया जाय तो एक-न-एक जन्म में, कभी-न-कभी, सफलता अवश्य मिलती है। उत्पलवर्णा को, अनेक जन्मों के बाद, गौतमबुद्ध के समय में ऐसा अवसर उपस्थित हुआ। पिता ने उसके प्रव्रज्या ग्रहण करने की इच्छा

प्रकट की, और पूर्वजन्म के संस्कार से प्रभावित होकर कुमारी उत्पव-वर्णा ने प्रसन्नतापूर्वक भिक्षुणी बनना स्वीकार कर लिया ।

पुत्री को भिक्षुणी बनने के लिए तैयार होते देख पिता की आँखों में आँसु भर आये, अन्तःकरण में स्नेह उमड़ पड़ा और उसके मुँह से शब्द तक नहीं निकले। स्नेह के साथ उसने पुत्री को अपने हृदय से लगा लिया और उसके शुभ विचार के लिए उसे धन्यवाद दिया। इसके बाद अपने साथ भिक्षुणी-संघ में ले जाकर उसे प्रव्रज्या दिलादी।

उत्पलवर्णा इस नवीन आश्रम में खूब रम गई और उसे ऐसा प्रतीत होने लगा कि मोह-माया के बन्धनों से मुक्त होकर वह स्वतंत्र वातावरण में पहुँच गई है।

उपसम्पदा प्राप्त किये बाद उसने आध्यात्मिक उन्नति के लिए अध्ययन करना आरम्भ किया। यहाँ यह बता देना भी अप्रासंगिक न होगा कि उपसम्पदा है क्या। उपसम्पदा के योग से भिक्षु और भिक्षुणी-संघ की एक निश्चित प्रकार की व्यवस्था होती थी। प्रव्रज्या लेने से तो सिर्फ़ भिक्षुणी-संघ में प्रवेश करने की ही अनुमति मिलती थी, पर संघ में प्रविष्ट होने के साथ ही एकदम संघ के समस्त अधिकार प्राप्त नहीं होते थे। अनुभव और योग्यता प्राप्त होने पर 'उपसम्पदा' लेकर ही भिक्षु या भिक्षुणी को संघ-सम्बन्धी सब बातों में मत देने का अधिकार मिलता था। अस्तु !

संघ में रहते हुए उत्पलवर्णा ने बौद्धधर्म के मुख्य ग्रन्थों (त्रिपिटक) का अध्ययन किया। पश्चात् शील-सम्पदा प्राप्त की और समाधि-भावना का साक्षात्कार करने के मार्ग पर अग्रसर हुई ।

बौद्ध-धर्म में 'उपोसथ' की एक क्रिया होती है। उपोसथ के दिन जिस स्थान पर भिक्षुओं का संघ एकत्र हो उसे उपोसथागार (उपोसथागार) कहते हैं। चौदस और पूर्णिमा के दिन इस स्थान की व्यवस्था करने का काम बारी-बारी से भिक्षुओं और भिक्षुणियों के ज़िम्मे आता था। इस दिन 'प्रतिमोक्ष' ग्रन्थ का पाठ होता, जिसमें इस बात का उपदेश है कि भिक्षुओं और भिक्षुणियों को किन-किन नियमों का पालन करना चाहिए तथा किन-किन बातों से बचना चाहिए। किसी भिक्षु या भिक्षुणी से इसमें के किसी नियम का भंग होता तो सम्मेलन में संघ स्थविर उसे खड़ा करके उससे अपना अपराध स्वीकार कराता और संघ उसके लिए जो दण्ड निश्चित करता वह उससे भुगतवाया जाता था।

उत्पलवर्णा उपोसथ के दिन प्रतिमोक्ष सुनने के लिए बड़ी उत्सुक रहती और उपोसथशाला को झाड़-बुहारकर साफ़ करती तथा दीपक आदि लाकर रखती थी। दीये की जोत के पास बैठकर वह ध्यान करती। इस प्रकार ध्यान करते हुए तेज के विस्तृत स्वरूप को अपने हृदय में उतारकर उसने समाधि-अवस्था प्राप्त की, समाधि-दशा का अभ्यास करके प्रज्ञा का सम्पादन किया, और फिर 'अर्हत्' पद का साक्षात्कार किया। 'अर्हत्' पद का फल प्राप्त होने के बाद उसे ऋद्धि-सिद्धि मिल गई और चमत्कार करने में वह पारंगत हो गई।

एक दिन की बात है कि भगवान् गौतमबुद्ध ने 'यम कपाटी हाटिय' नामक चमत्कार किया, अर्थात् भिन्न स्वभाववाली दो वस्तुओं को एक साथ मिलाकर बतलाया। जिस दिन बुद्धदेव ने यह चमत्कार

किया उसी दिन भिक्षुणी उत्पलवर्णा ने भी सिंहनाद किया कि 'गुरुदेव ! आपके बाद मैं भी एक चमत्कार करके बताऊँगी'—और, अपने इस कथन को प्रत्यक्ष सिद्ध भी कर दिया।

एक दिन भगवान् बुद्धदेव जेतवन में संघ के सामने बैठकर भिक्षुणियों को उनकी योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न स्थानों में भेजने लगे। उस समय उत्पलवर्णा की बारी आने पर, उसके उपर्युक्त सिंहनाद का उल्लेख करके, बुद्धदेव ने उसके लिए ऋद्धिमति भिक्षुणी के श्रेष्ठपद की योजना की। इस प्रकार उत्पवर्णा की अनेक जन्मों की आकांक्षा पूर्ण हो गई।

थेरी-गाथा में उत्पलवर्णा की रचना है, इन्द्रियों के वशीभूत होकर विषयलोलुप होने से मनुष्य की कैसी अधोगति हो जाती है, उसे कैसी शोकजनक स्थिति में पड़ना पड़ता है, यही इसकी गाथा में बताया गया है। साथ ही यह भी इसने बताया है कि ऋद्धि और अभिज्ञा प्राप्त होने पर कैसा आनन्द और सुख मिलता है। मार (कामदेव) ने इसे प्रलोभन में डालकर धर्म-मार्ग से विचलित करने का प्रयत्न किया, तब इसने डाटकर उससे कहा—"मार ! याद रख, मैं तृष्णा छोड़ चुकी हूँ और तम का मैंने नाश कर दिया है। यही नहीं, बल्कि तेरा भी मैं नाश कर चुकी हूँ। तेरी सामर्थ्य नहीं, जो मुझे पवित्र धर्म-मार्ग से हटा सके।"

बौद्ध ग्रन्थों में क्षेमा भिक्षुणी के समान ही इसकी भी योग्यता मानी गई है।

१८

श्रद्धा से महान् बननेवाली

शृगाल-माता

बौद्ध धर्म में अटूट श्रद्धावाली और श्रद्धा के ही बल पर महान् बननेवाली यदि कोई भिक्षुणी है, तो वह शृगाल-माता है।

कहते हैं कि प्रश्नोत्तर बुद्ध के समय में हंसावती नगर में यह रहती थी, और भगवान बुद्धदेव के धार्मिक व्याख्यानों से इसके हृदय में अपूर्व श्रद्धा का उदय हुआ था। इसके बाद एक दिन विहार में धर्म-कथा होजाने पर बुद्धदेव ने भिक्षुणियों को उनकी योग्यतानुसार उन्हें विभक्त किया तब एक भिक्षुणी को श्रद्धावती भिक्षुणियों में प्रथम स्थान मिला। यह देख इसके मन में भी भावी जीवन में ऐसा ही पद प्राप्त करने की आकांक्षा उत्पन्न हुई।

आकांक्षा शुभ हो तो किसी न किसी जन्म में वह अवश्य फली-भूत होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार भगवान् गौतमबुद्ध के आविर्भाव के समय इसने भी राजनगर के एक श्रेष्ठ कुल में जन्म लिया। विवाह-योग्य होजाने पर इसके जैसे ही समान कुल, विद्या और गुणोंवाले एक युवक के साथ इसका विवाह हुआ। गृहिणी-धर्म का इसने यथोचित रूप में पालन किया और एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम शृगाल रक्खा गया।

शृगाल को भगवान बुद्ध ने गृहस्थ के कर्तव्य-कर्मों सम्बन्धी एक अत्यन्त हृदयस्पर्शी और सुन्दर उपदेश दिया था। यह युवक अपने अपने पिता की आज्ञानुसार रोज़ सवेरे शहर के बाहर जाकर स्नान करके पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर और नीचे इन छःओं दिशाओं को गीले वस्त्र तथा भीगे हुए बालों से नमस्कार करता था। एकदिन जब वह ऐसा कर रहा था तो बुद्ध उसे मिले और इन दिशाओं का असली अर्थ उसे बतलाया। उन्होंने कहा कि दिशाओं की पूजा का मतलब यह है कि जिस-जिस दिशा में जो-जो विभिन्न तत्त्व बतलाये गये हैं उनपर आस्था रखकर उनकी रक्षा के लिए रात-दिन प्रयत्न करते हुए उन्हींके अनुसार गृहस्थाश्रम चलाया जाय। युवक शृगाल पर इस उपदेश का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि वह भगवान् का उपासक बन गया और खूब प्रसिद्ध हुआ। इस पुत्र के कारण ही इसकी माता शृगाल-माता के रूप में प्रसिद्ध हुई है।

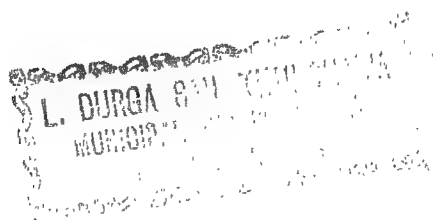
ऐसा प्रतीत होता है कि अपने पुत्र शृगाल से ही उसने भगवान बुद्ध और उनके सम्बन्ध का अन्य हाल जाना होगा। पुत्र के प्रत्यक्ष दृष्टान्त से बौद्धधर्म के सिद्धान्तों में इसकी श्रद्धा होगई और वह इतनी बढ़ी कि यह भिक्षुणी बनकर संघ में शामिल होगई।

संघ में प्रविष्ट होने के बाद इसने क्या-क्या सत्कर्म किये, इसका कोई विवरण नहीं मिलता; परन्तु इतना अवश्य मालूम होता है कि प्रव्रज्या लिये बाद संघ में रहकर इसने अपनी श्रद्धा का गुण बहुत बढ़ा लिया था।

एक दिन यह विहार में गई हुई थी। [illegible]

समय धर्मकथा कर रहे थे। शृगाल-माता एकाग्रचित्त होकर उनका धर्मोपदेश सुनने लगी और उसमें ऐसी तल्लीन होगई कि भगवान के तेजस्वी शरीर पर उसका ध्यान लग गया। भगवान् ने देखा कि इसकी श्रद्धा पूर्णता को पहुँच गई है तो उन्होंने इस ध्यानबल के कारण इसे 'अर्हत्' की पदवी प्रदान की।

इसके बाद एक दिन जेतवन में बुद्ध भगवान् भिक्षुणियों को उनकी योग्यतानुसार विभक्त करने लगे। तब उन्होंने शृगाल-माता को निःसीम श्रद्धावाली भिक्षुणियों में सर्व-प्रथम स्थान प्रदान किया। इस प्रकार पूर्व जन्म की अभिलाषा शृगाल-माता के इस जन्म में फलीभूत होगई।



१९

पतिव्रता भिक्षुणी

मण्डपदायिका

इस बौद्ध सेविका का जन्म-नाम क्या था, यह मालूम नहीं पड़ा। 'अपदान' में इसका नाम मण्डपदायिका लिखा हुआ है। दीक्षा लेने के बाद, अर्थात् 'उपसम्पदा' प्राप्त किये पश्चात्, इसका यह नाम रक्खा गया होगा, ऐसा मालूम पड़ता है।

वैशाली के एक धनी रईस के खानदान में इसका जन्म हुआ था। इसका शरीर बड़ा हृष्ट-पुष्ट था। एक नौजवान रईस के साथ इसका विवाह हुआ और बड़े प्रेम के साथ यह अपने पति की सेवा करने लगी।

एक दिन बुद्ध भगवान् वैशाली में आये। तब उनका मधुर उपदेश सुनकर बौद्ध धर्म में इसे श्रद्धा उत्पन्न हुई और यह बुद्ध की शिष्या बन गई, परन्तु गृहस्थाश्रम-धर्म का यथाविधि पालन करती रही। तदुपरान्त एक दिन महाप्रजावती गौतमी का वहाँ आगमन हुआ और उन्होंने वहाँ की स्त्रियों में धर्मोपदेश किया। तब इसके मन में भी संसार-परित्याग की इच्छा प्रबल हो गई। अपने पति के सामने इसने अपनी यह इच्छा प्रकट की, परन्तु उसने सहमति नहीं दी; अतः यह

पतिव्रता अपने सांसारिक कार्य तो करती रही, पर साथ-साथ एकाग्रचित्त से धर्म के रहस्य का भी चिन्तन करने लगी।

एक दिन यह रसोई में बैठी भोजन बना रही थी। अकस्मात् बड़ा भारी धड़ाका हुआ और आग की तपिश से चूल्हे पर चढ़ा हुआ बर्त्तन ज़ोर की आवाज़ के साथ फट गया। भोजन सब जलकर खाक हो गया। इस अनोखी घटना का उसपर बहुत प्रभाव पड़ा और उसके मन में यह बात जम गई कि इस भूमण्डल की सब वस्तुयें क्षणभंगुर हैं। फलतः, इसी दिन से, उसके मन में सच्चा वैराग्य उत्पन्न होगया। सुन्दर वस्त्राभूषण और रत्नालंकारों का पहनना उसने छोड़ दिया। जब पति ने इसका कारण पूछा, तो उसने विनयपूर्वक कहा—"प्राणनाथ! संसार पर से मेरी आसक्ति उठ गई है। भोग-विलास या सुख-वैभव में अब मेरा ज़रा भी जी नहीं लगता।" पति भी संस्कारवान् व्यक्ति था। पत्नी की इच्छा देखकर वह उसे महाप्रजावती गौतमी के पास ले गया और नम्रता के साथ प्रणाम करके उनसे कहा—"देवी! यह मेरी धर्मपत्नी है। संसार से विरक्त होकर, यह भिक्षुणी बनना चाहती है। अतः आप इसे दीक्षा दीजिए।"

तब धन-वैभव में पली हुई मण्डपदायिका ने विधिपूर्वक बौद्धधर्म की दीक्षा ली और रात-दिन गुरु की आज्ञानुसार धर्म-सेवा एवं धर्म-पालन करने लगी। आख़िर 'अर्हत्'पद प्राप्त करके इसने अपने मनुष्य-शरीर को सार्थक किया।

'थेरी-गाथा' में इसकी एकश्लोकी रचना को प्रथम स्थान मिला है। उस श्लोक में यह अपनेको सम्बोधन करके कहती है—"ऐ थेरी!

(ज्ञानवृद्ध भिक्षुणी) ! चोले (पाँव तक पहुँचनेवाला साधुओं के पहनने का वस्त्र) के द्वारा सारे शरीर को ढककर सुख से सो जा, अर्थात् वासनाशून्य होकर शान्त भाव धारणकर, क्योंकि जैसे किसी घड़े में पानी न हो तो चूल्हे पर रखने पर भी उसमें से खदकने की आवाज़ नहीं निकती है उसी प्रकार तेरी वासनाओं का विकार भी नष्ट हो गया है।"

२०

अकिंचन और अनासक्त

धर्मदिन्ना

राजा बिम्बिसार का कुछ परिचय पहले दिया जा चुका है। विशाख नाम के एक व्यक्ति से उसकी बड़ी मित्रता थी। विशाख बुद्धदेव का परमभक्त था, और इस धर्म-मार्ग में उसने काफ़ी प्रगति करली थी। धर्मदिन्ना इसी परमश्रद्धालु उपासक की सहधर्मिणी थी। सौभाग्यवश उसका पति जैसा श्रद्धालु और भक्त था वैसा ही प्रेमी भी था। धर्मदिन्ना भी परमसुन्दरी, विदुषी और सदाचारी होने के कारण उस प्रेम के उपयुक्त ही थी। इस प्रकार पति-पत्नी परस्पर प्रेम शृंखला में आबद्ध थे। रात-दिन पति को प्रसन्न रखना, उसको प्रिय होनेवाले काम करना, मीठी-मीठी बातें करके उसके कान तृप्त करना—यही उसके जीवन का एकमात्र उद्देश था। बुद्ध में अभीतक धर्मदिन्ना की कोई भक्ति नहीं थी; पर विशाख ऐसा पति न था जो इसके लिए ज़ोर-ज़बरदस्ती करता। उसे विश्वास था कि धर्मदिन्ना अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग करनेवाली स्त्री नहीं है; जब उसे बुद्ध की शक्तियों का ज्ञान होगा तब वह स्वयं उनके दर्शनों की इच्छा करेगी।

विशाख के ऊपर धीरे-धीरे बुद्धदेव के उपदेश का अधिकाधिक प्रभाव पड़ने लगा। वह उनका शिष्य बन गया और आध्यात्मिक मार्ग में अग्रसर होने लगा। जैसे-जैसे उसे धर्म-प्राप्ति होती गई, वैसे-वैसे संसार के प्रति आसक्ति भी घटने लगी; फिर भी इस बात का वह यथाशक्ति प्रयत्न करता कि उसकी प्रेमल पत्नी को कोई असुविधा न हो। इस प्रकार लगातार धर्म-साधना करते हुए वह धर्म की तीसरी सीढ़ी अनागामि फल पर आ पहुँचा, जिस स्थिति में पहुँचकर जन्म-मरण का दुःख नहीं रहता।

इस स्थिति में पहुँचे बाद, एक दिन विशाख बुद्धदेव की मधुर-वाणी का श्रवण करके घर आया। प्रेम-मूर्त्ति धर्मदिन्ना पति के आने की बाट जोहती हुई सामने ही जीने में खड़ी थी, परन्तु आज विशाख ने रोज़ की तरह प्रेम-पूर्वक उसको नहीं बुलाया। यह देख धर्मदिन्ना ने पूछा—"प्यारे! आज तुम मुझसे क्यों नहीं बोले? आज मेरा आलिंगन क्यों नहीं किया? क्या आज मुझसे कोई अपराध होगया है?"

विशाख ने जवाब दिया—"देवी! तुमने कोई अपराध नहीं किया, परन्तु आज से मैं स्त्री को स्पर्श करने तथा स्वादिष्ट भोजन करने के योग्य नहीं रहा। जिस नवीन आश्रम को मैंने ग्रहण किया है, उसमें इन सब भोग-विलासों का निषेध है। तुम क्या करो, यह तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है। इस घर में रहना हो तो यह तुम्हारा ही है, खुशी से तुम यहाँ रहो; और पिता के घर जाना चाहो, तो उसमें भी मुझे इन्कार नहीं है। जितना धन और माल असबाब लेजाना चाहो, ले जाओ।"

धर्मदिन्ना सुन्न रह गई। उसकी सहनशीलता अपनी सीमा को पहुँच चुकी थी। जिस पति की जीवन-पर्यन्त वह सेवा कर रही थी, जिसके प्रेम में पागल होकर वह इस लोक और परलोक को भी भूल गई थी, वही आज ऐसी बात कहे! आखिर विनयपूर्वक उसने कहा—"प्यारे! मैं इनमें से एक भी बात नहीं कर सकती। धन, रत्न तथा वैभव का मुझे मोह नहीं है। यह सब तुम्हारे पीछे था। तुम जब मुझे छोड़कर साधु बनने को तैयार हो, तो मेरे लिए यह संभव नहीं कि पीहर जाकर मैं वैभव का उपभोग करूँ। अतः मुझे भी संसार त्याग करके बुद्धदेव की शरण लेने दो; उनकी शरण जाकर, मैं भी धर्म-मार्ग की प्रवासी बनूँगी।"

विशाख ने कहा—"जैसी तुम्हारी इच्छा। मैं खुशी के साथ तुम्हें भिक्षुणी बनने की अनुमति देता हूँ।"

इसके बाद सुवर्ण की पालकी में बिठाकर उसने धर्मदिन्ना को भिक्षुणियों के मठ में पहुँचा दिया। वहाँ उसने दीक्षा ले ली। परन्तु वहाँ रहते हुए भी उसे पति-प्रेम और पति-सुख में व्यतीत हुए अपने आनन्दमय दिनों का स्मरण हो जाता था। ये स्मरण उसके नवीन आश्रम के उपयुक्त नहीं थे और आध्यात्मिक उन्नति में बाधा डालते थे। इसलिए उसने अपनी उपदेशिका तथा अन्य थेरियों से कहा—"बहनो! ऐसी भीड़भाड़ की जगह रहने में मुझे शान्ति नहीं मिलती। मुझे एकान्तवास बहुत प्रिय है। अतः आप आज्ञा दें तो मैं किसी छोटे-से गाँव में चली जाऊँ।" तदनुसार भिक्षुणियों ने उसे एकान्त स्थान में भेज दिया। उस शान्त, एकान्त एवं रमणीक स्थान में

धर्मदिन्ना को बड़ा आनन्द आया। वहाँ पहुँचकर उसने इन्द्रियों की प्रवृत्ति का दमन करने का अभ्यास किया और ध्यान करते-करते थोड़े ही समय में 'अर्हत्' पद को पहुँच गई। जन्म-मरण के चक्र से छूट गई तब उसने सोचा—"मेरे लिए इस एकान्त स्थान में जिन्दगी बिताना व्यर्थ है। अब तो मैं किसी बड़े शहर में जाऊँ तो भी मेरा चित्त विचलित नहीं हो सकता और न मेरे सत्कार्य में ही विघ्न पड़ सकता है। उल्टे राजगृह में रहने से मैं बुद्धदेव की चरण सेवा कर सकूँगी और अपने नाते रिश्तेदारों तथा अज्ञान-पाश में पड़ी हुई अपनी बहनों का उपदेश-द्वारा लाभ कर सकूँगी।" तब, इस उद्देश के साथ, वह राजगृह चली गई।

विशाख को जब मालूम हुआ कि धर्मदिन्ना लौट आई है, तो उसे मन में आशंका हुई कि "जन्म से ही सुख-वैभव में पलने के कारण उससे भिक्षुणी-व्रत के कठोर नियमों का पालन नहीं हो सका होगा और उनसे तंग आकर वह यहाँ मेरे पास वापस आई होगी।" अतः वह उससे मिलने गया और एकान्तवास से वापस आने का कारण पूछा। इसके जवाब में जब धर्मदिन्ना ने उसे अपना हेतु बतलाया तो वह बड़ा प्रसन्न हुआ। पश्चात् पत्नी के धर्मज्ञान की परीक्षा लेने के लिए उसने उससे तत्त्वज्ञान सम्बन्धी कई प्रश्न पूछे। परन्तु धर्मदिन्ना ने ऐसी आसानी और शीघ्रता से प्रत्येक प्रश्न का उत्तर दिया, जैसे कोई छुरी से कमल की डण्डी को तुरन्त काट डालता है। उसने बतलाया कि धर्म के पाँच स्तम्भ (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) होते हैं। धर्म के तीन मार्गों का उसने उसी

करण किया। इसके बाद जब विशाख अपने अधिकार से आगे बढ़कर प्रश्न करने लगा तो धर्म-मार्ग में आगे बढ़ी हुई धर्मदिन्ना ने कहा—"आयुष्यमन्! ऐसे प्रश्नों का मैं उत्तर नहीं दे सकती, जो हमारी ज्ञानेन्द्रियों को दृष्टिगोचर नहीं हैं। जैसे निर्वाण, ब्रह्मचर्य के कर्तव्य, निर्वाण के बाद क्या होता है, निर्वाण के अन्त में क्या सुख मिलता है, इत्यादि। इन प्रश्नों को तो आप भगवान् बुद्ध से करें, और वह जो उत्तर दें उसे हृदयंगम कर लें।"

विशाख ने यह सब हाल जाकर बुद्धदेव से कहा। बुद्धदेव यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे—"इस लड़की के मन में भूत, वर्तमान या भविष्य काल के सहारों (स्तम्भों) की कोई तृष्णा नहीं है।" यह कहकर उन्होने एक धर्म-गाथा सुनाई कि "जिसका भविष्य, भूत या वर्तमान किसी भी काल के बन्धनों से कोई सम्बन्ध न हो उसे अकिञ्चन कहते हैं। जो कोई इस अर्थ में अकिञ्चन और निरासक्त हो, उसीको मैं ब्राह्मण कहता हूँ।" और धर्मदिन्ना के ज्ञान की भूरि-भूरि प्रशंसा करके उन्होंने कहा—"विशाख! उपासिका भिक्षुणी धर्मदिन्ना बड़ी पंडिता और महाप्रज्ञावती है। तुमने मुझसे पूछा होता तो मैं भी उन प्रश्नों के वही उत्तर देता, जो धर्मदिन्ना ने दिये हैं। उसने जो अर्थ बताया है वही असली अर्थ है। उसीको तुम ग्रहण करो।"

इसके बाद एक दिन भगवान् बुद्धदेव जेतवन में विराजे हुए थे। भिक्षुणी-संघ वहाँ एकत्र हुआ था, और बुद्धदेव भिक्षुणियों की योग्यतानुसार उन्हें भिन्न-भिन्न वर्गों में विभक्त कर रहे थे। बौद्धधर्म

के नवें अंग में धर्मदिन्ना प्रवीण थी। जीवात्मा है या नहीं, जीवात्मा को किस प्रकार जाना जा सकता है, आर्यों के धर्म के आठ अंग क्या हैं; संस्कार का क्या आशय है, इत्यादि कठिन और गूढ़ प्रश्नों का वह स्पष्टीकरण कर चुकी थी। धर्म-कथा करने में वह प्रसिद्ध हो गई थी। अपने सुन्दर व्याख्यान के कारण, वह अनेक श्रोताओं के चित्त धर्म की ओर आकर्षित करती थी, कितनी ही बहनों को भी उसने धर्म-कथा कहने में प्रवीण कर दिया। शुकला, बटकेसी आदि उसकी शिष्यायें थीं। जन-समाज को शिक्षा देकर धर्म-मार्ग में लाने का काम धर्मदिन्ना ने बहुत अच्छी तरह सम्पादन किया था। इस लिए बुद्धदेव ने उसे भिक्षुणी-संघ में मुख्य स्थान प्रदान किया।

इसकी रची हुई एक गाथा का सारांश इस प्रकार है—"जब मनुष्य के मन में सर्वोच्च शान्ति की इच्छा पैदा हो जाती है तो फिर चित्त में वासना नहीं रहती और आत्मा उच्चमार्ग की ओर अग्रसर होने लगता है।"

२१

मार-विजयिनी

सेला (शैलजा)

यह आलवी-पति की कन्या थी। 'संयुक्त निकाय' (मज्झिम निकाय) ग्रन्थ में पिता के नाम पर इसे 'आलविका' कहा गया हैं। बुद्धदेव के वचनों में श्रद्धा पैदा होने से इसका पिता गृहस्थ-उपासक बन गया था। जब बुद्धदेव आलवी नगर में आये तो पिता के साथ राजकुमारी शैला भी उनका उपदेश सुनने गई थी। बुद्धोपदेश सुनकर इसे भी बुद्ध-धर्म पर श्रद्धा हुई और यह बुद्धदेव की शिष्या बन गई। तदुपरान्त धर्मशास्त्रों के अध्ययन एवं जिज्ञासा में प्रगति करते हुए यह संसार-त्याग करके भिक्षुणी बन गई। इस अवस्था में इसे अन्तर्दृष्टि प्राप्त हुई और मन, वचन, कर्म से वासनाओं का दमन करके यह 'अर्हत्' पद को प्राप्त हुई।

आलवी नगर श्रावस्ती से तीस योजन और काशी से बारह योजन पर था। अपनी पिछली अवस्था में यह श्रावस्ती में रहते हुए एक वृक्ष के नीचे बैठकर तपस्या करती थी। एक बार मार (कामदेव) गुप्त रूप से इसकी तपस्या भंग करने आया और कहने लगा— "सुकुमारी! इस एकान्त वन में तुम क्यों रह रही हो? इसमें क्या धरा है? इस संसार से तो तुम्हारा उद्धार कभी भी नहीं होना है।

अतः जबतक संसार में हो खूब सुख-भोग कर लो, नहीं पीछे से पछताओगी।

शैला बहुत समझदार और ज्ञानवान् थी। वह समझ गई कि निर्वाण-पद प्राप्त करने से मुझे रोककर विषय-वासना के जाल में फँसाने के लिए स्वयं कामदेव यहाँ आया है। अतः उसने जवाब दिया—"तू जिसे सुख कहता है वह संसार का विषय-भोग तो शूल और भाले की तरह मनुष्य के शरीर को बींध डालता है। ऐसे सुख की मेरे सामने कोई गिनती नहीं है। ऐसे निःसार सुख की ओर तो मेरा मन ही नहीं जाता। भोग-विलास की मेरी वासना मर चुकी है और अज्ञान-रूपी अन्धकार मिट चुका है, इसलिए मार! तेरी यहाँ कुछ नहीं चल सकती।"

सेला का यह जवाब सुनकर और दृढ़ता देखकर मार को और कुछ कहने की हिम्मत न हुई और परास्त होकर वह वहाँ से चल दिया।

सच्ची सहधर्मिणी

भद्रा कापिला

गौतम बुद्ध के समय सागल नामक गाँव में कौशिक ब्राह्मण के परिवार में इसका जन्म हुआ था। यह ब्राह्मण बड़ा समृद्धिशाली था। अतः भद्रा का बाल्यकाल बड़े सुख-वैभव में व्यतीत हुआ। वयः प्राप्त होने पर मगधदेश के एक धनवान् युवक के साथ इसका विवाह हुआ, जिसके दो नाम थे—कश्यप और पिप्पली। कपिल की लड़की होने से भद्रा भी कपिला अथवा कपिलानि नाम से प्रसिद्ध हुई है।

कश्यप और भद्रा का एक-दूसरे के प्रति अत्यन्त प्रेम था। इनका सांसारिक जीवन बहुत अच्छा था; क्योंकि रूप, वय, सद्गुण आदि सभी बातों में दोनों एक-दूसरे के समान थे। अतः इनका प्रेम-सम्बन्ध बहुत ही दृढ़ था; और सारे नगर के लिए आदर्श-रूप हो गया था। इस प्रकार ज्ञान-प्राप्ति एवं लोक-सेवा में इनका जीवन-यापन हो रहा था।

इसी समय गौतम बुद्ध ने धर्म-प्रचार का काम शुरू किया। अनेक युवक गृहस्थाश्रम के मोह को तिलाञ्जलि देकर बुद्धदेव की शरण आये और धर्म-प्रचार के पुण्य कार्य में सम्मिलित हो गये। इस

धर्मिक आन्दोलन के समय भद्रा के पति ने भी अपनी प्रिय पत्नी के प्रेम-पाश को तोड़कर गृह-त्याग किया और गौतम का शिष्य बन गया। तब भद्रा को भी उस अटूट सम्पत्ति को लेकर ऐश-आराम में जीवन व्यतीत करना अच्छा न लगा; और समस्त सम्पत्ति नाते-रिश्तेदारों को बाँटकर, उसने भी गृहस्थाश्रम का परित्याग करके पति का अनुसरण किया। भर जवानी में सांसारिक सुखों को लात मारकर वह भिक्षुणी बनने को तैयार हो गई।

भगवान् बुद्ध भिक्षु संघ की स्थापना तो कर चुके थे, किन्तु भिक्षुणि-संघ अभी नहीं बना था। अतः कश्यप तो भिक्षु-संघ में प्रविष्ट हो गया, किन्तु भद्रा ने पाँच वर्ष तक भिक्षुणियों के पास रहकर धर्म-शिक्षा प्राप्त की। इसके बाद महाप्रजावती गौतमी ने नियमपूर्वक भिक्षुणी-संघ की स्थापना की, तब भद्रा उसमें चली गई। प्रव्रज्या लिये बाद इसने उपसम्पदा प्राप्त की और फिर उत्तरोत्तर अधिकार प्राप्त करते हुए अर्हत्-पद को प्राप्त हुई। इस स्थिति में पहुँचजाने पर इसे अपने पूर्व-जन्मों का स्मरण हुआ।

उधर कश्यप ने भी बुद्ध संघ में खूब प्रसिद्धि प्राप्त की। संघ में बन्धन ढीले पड़ गये थे उन्हें दृढ़ करने का काम इसीके हाथों हुआ; और गौतम बुद्ध के परि निर्वाण पर इसीने पाँचसौ भिक्षुओं की महासभा बुलाकर बौद्ध-शासन में संकलित किया था। जैसे कश्यप भिक्षु-संघ का नेता बना, उसी प्रकार भद्रा भिक्षुणी-संघ में सर्वोच्च स्थान पर पहुँची थी। यही नहीं बल्कि धर्म-कथा करने में भी उसने खूब कुशलता और प्रसिद्धि प्राप्त की।

एक दिन जेतवन में बुद्धदेव ने भिक्षुणियों को उनकी योग्यता-नुसार पदवियाँ देने का समारोह किया। उस समय उन्होंने भद्रा को पूर्वजन्म की स्मृतिवाली भिक्षुणियों में अग्रस्थान प्रदान किया था।

थेरी-गाथा में ६३ से ६६ तक के श्लोक इसके बनाये हुए हैं। उनपर से भद्रा के पति-प्रेम एवं धर्मवृत्ति का परिचय मिलता है। अपने पति को 'बुद्ध के पुत्र और उत्तराधिकारी' के रूप में सम्बोधन करके, त्रिविद्या के आधिपति होने के कारण, सच्चे ब्राह्मण के रूप में इसने उनका परिचय दिया है। अपना परिचय देते हुए यह कहती है— "कश्यप की भाँति मैंने भी त्रिविद्या प्राप्त की है, मृत्यु पर विजय पाई है, मार (काम) को उसकी सेना-सहित हरा दिया है; अतएव यह मेरा अन्तिम जन्म है। जगत् में संकट बहुत हैं, इस बात को समझकर हम दोनों ने प्रव्रज्या ली और उसके बाद 'क्षीणासव' (अर्हत्) बनकर, इन्द्रिय-दमन द्वारा शान्ति प्राप्त करके, हम निवृत्त (मुक्त) हो गये हैं।"

भद्रा ने अपनी समस्त आयु स्त्री-समाज की सेवा करने और उन्हें धर्म-मार्ग पर लाने में व्यतीत की। पति के साथ ही संन्यास लेने, उसके सब कामों में स्वतंत्र रूप से मदद करने और उसके साथ-साथ 'अर्हत्' पद एवं निर्वाण प्राप्त करने के उत्तम सहचर्य द्वारा इसने सच्चे अर्थों में अपने सहधर्मिणी और सहचारिणी पद को सार्थक किया, इसमें सन्देह नहीं।

२३

भद्रा

अपने घुंघराले सुन्दर बालों के कारण यह भद्रा कुण्डलकेशा कहलाती थी। पहले यह जैन-धर्म पालन करती थी, इसलिए 'पुराण निर्गन्थी' भी इसका एक नाम है।

इसके जीवन में थोड़ी विचित्रता है। राजगृह के एक धनी साहूकार के यहाँ इसका जन्म हुआ था। युवावस्था में पहुँचने पर यह अपने पुरोहित-पुत्र सार्थक पर मोहित हो गई। परन्तु, इसकी बदक़िस्मती से, ब्राह्मणपुत्र सार्थक अच्छे चाल-चलन का नहीं था। एक दिन चोरी के अपराध में राज्य-द्वारा उसे सिंह के पिंजड़े में डाल देने का हुक्म हुआ, ताकि सिंह उसे फाड़कर खा जाय। सरकारी सिपाही सज़ा के लिए उसे वध्यभूमि ले जा रहे थे, उस समय भद्रा ने उसे देखा। अपने प्रेमी की ऐसी दशा देख इसे बड़ा क्षोभ हुआ और पिता को अपने गुप्त प्रेम का हाल बतलाकर इसने सार्थक की प्राण-रक्षा करने के लिए कहा। तब इसके पिता ने सरकारी अधिकारियों को अन्धा-धुन्ध रिश्वत देकर सार्थक की सज़ा माफ़ कराई और भद्रा के साथ उसका विवाह कर दिया।

पाठक-पाठिकायें शायद यह कल्पना करें कि इसके बाद तो इन दोनों का जीवन निर्विघ्न बीता होगा। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। सार्थक का चाल-चलन फिर भी नहीं सुधरा, बल्कि और बिगड़ता ही गया। यहाँ तक कि एक दिन भद्रा पर ही उसने हाथ साफ़ करने का कुचक्र किया। भद्रा के गहने चुराने के अभिप्राय से छलपूर्वक उसने भद्रा से कहा—"प्रिये! एक बार मुझ पर एक बड़ा संकट आ पड़ा था। उस समय पर्वत की चोटी पर रहनेवाले एक देवता की मैंने मानता की थी, कि संकट टल गया तो अपनी पत्नी-सहित मैं आपके दर्शनों को आऊँगा। अतः सुन्दर और बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहनकर तू मेरे साथ चल। चलो, हम दोनों पर्वत पर जाकर उस देवता को प्रणाम कर आयें।" भद्रा बिना कुछ कहे सुने इसके लिए तैयार हो गई। तब दोनों पर्वत पर गये। वहाँ पहुँचकर भद्रा को पता लगा कि पतिदेव तो वस्त्राभूषण छीनकर उसे मार डालने की तैयारी में हैं। उसने कहा—"स्वामी! ये वस्त्राभूषण ही नहीं, मेरा जीवन भी आपही का है; मेरा वध करके इन्हें ले भागने का विचार आप क्यों करते हैं?" परन्तु सार्थक के पत्थर-जैसे हृदय पर भद्रा की बात का कोई असर नहीं हुआ। जब किसी भी तरह उसका इरादा नहीं बदला, तो भद्रा ने अपनी जीवन-रक्षा का एक दूसरा उपाय सोचा। उसने कहा—"प्राणनाथ! मुझे मार ही डालना है, तो मेरी एक प्रार्थना तो मान लो। आख़िरी वक़्त कम-से-कम एक बार मुझे अपना आलिंगन तो कर लेने दो।" सार्थक ने यह बात मान ली और आलिंगन के लिए हाथ फैलाये। भद्रा को यह बड़ा अच्छा मौक़ा मिला। उसने एकदम धक्का देकर उस दुष्ट को पर्वत

से नीचे गिरा दिया। भद्दा की यह समय सूचकता प्रशंसनीय थी। स्वयं पर्वत-निवासी देवता ने प्रत्यक्ष होकर इसके लिए भद्दा की प्रशंसा की। टीकाकार धर्मपाल ने इस प्रसंग का उल्लेख करके लिखा है कि पुरुष ही सब जगह अपनी होशियारी दिखा सकता हो ऐसा बात नहीं है; जिन्हें हम रमणी कहते हैं, वे स्त्रियाँ भी काम पड़ने पर विलक्षण होशियारी बता सकती हैं।

दुष्ट को तो अपनी दुष्टता का दण्ड मिला, परन्तु भद्दा के सामने यह समस्या उपस्थित हो गई कि अब वह क्या करे। वह सोचने लगी—"मेरे लिए अब घर जाना व्यर्थ है; अब तो मुझे अपने सांसारिक जीवन को छोड़ ही देना चाहिए।" यह सोच, वह जैनियों के निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय में शामिल होकर भिक्षुणी बन गई। वहाँ की साध्वियों ने जब उससे पूछा, कि "तुम किस श्रेणी में दीक्षा लेना चाहती हो?" तो उसने कहा—"जो सबसे ऊँची हो।" मुण्डन कराके उसे दीक्षा दी गई। लेकिन इसके बाद जो बाल आये वे घुंघराले थे, इसलिए साध्वियों ने 'कुण्डलकेशा' ही उसका नाम रख दिया।

साध्वियों के आश्रम में रहकर भद्दा ने जैन धर्मशास्त्रों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया; परन्तु उससे इसे सन्तुष्टि नहीं हुई, इसलिए उनका साथ छोड़कर यह बाहर निकल पड़ी। शास्त्रार्थ करने की इसमें अद्भुत शक्ति थी। रास्ते में जो-जो विद्वान पण्डित मिले उनके सबके साथ इसने धर्म-सम्बन्धी वादविवाद किया, परन्तु उनमें ऐसा पण्डित कोई न निकला जो इसकी शंकाओं का समाधान कर देता। तब इसने एक दूसरा तरीक़ा अख्तियार किया। जिस गाँव में यह जाती उसकी

सीमा में रेत का ढेर लगाकर उसमें सरकण्डा गाड़ देती और गाँव के बालकों से कहती—"तुम यहाँ खेलते रहना और कोई शास्त्री, पण्डित या संन्यासी मेरे साथ शास्त्रार्थ करने की इच्छा करे तो उससे कहना कि वह इस सरकण्डे को अपने पैरों से कुचल डाले।" बालकों को यह कहकर यह गाँवों में धर्म-प्रचार के लिए चल देती और आठ दिन बाद वापस उस गाँव की सीमा में आकर देखती कि उसका लगाया हुआ सरकण्डा सही-सलामत है या नहीं। इसके बाद उसे उखाड़कर आगे के प्रवास को चल देती।

एक दिन भगवान बुद्धदेव का शिष्य सारिपुत्त वहां होकर जा रहा था। रेत का ढेर और सरकण्डा देखकर उसने बालकों से सब हाल मालूम किया सरकण्डे का रहस्य मालूम होनेपर उसने बालकों से कहकर उसे पैरों-तले कुचलवा दिया। शाम को भद्रा ने आकर जब सरकण्डा टूटा हुआ देखा, तो सारिपुत्त के पास जाकर कहा—"क्या आप मेरे साथ शास्त्रार्थ करना चाहते हैं?" सारिपुत्त ने कहा,—"हाँ।" तब भद्रा श्रावस्ती जाकर अनेक विद्वानों को अपना और बौद्ध साधु सारिपुत्त का वादविवाद सुनने के लिए बुला लाई।

विद्वानों के एकत्र होजाने पर शास्त्रार्थ शुरू हुआ। भद्रा ने पूछा—"पहले प्रश्न कौन करेगा—आप या मैं?" सारिपुत्त ने कहा—"साध्वी! पहले तुम्हीं प्रश्न करो; उसके बाद मैं करूँगा।" तदनुसार भद्रा ने अनेक प्रश्न किये, परन्तु सारिपुत्त ने सबका सन्तोषकारक उत्तर दे दिया। तब भद्रा को खामोश होना पड़ा। अन्त में सारिपुत्त ने कहा—"भद्रा! तुमने तो बहुत प्रश्न पूछ लिये; अब मैं भी एक

प्रश्न पूछूँ ?" भद्दा ने सम्मति दे दी, तब सारिपुत्त ने पूछा—"*एकम् नाम किम्* (अर्थात्, जिसे हम एक कहते हैं वह क्या है) ?" भद्दा ने इस सीधे-सादे पर गहन प्रश्न का उत्तर न दे सकी। वह घबरा गई और कहने लगी—"भगवन्! यह मैं नहीं जानती।" तब बौद्ध साधु ने कहा—"इसका ही तुम्हें ज्ञान नहीं तो और तुम क्या जानती होगी ?" इसके बाद उसने अपने धर्म का उपदेश किया। भद्दा साधु के चरणों पर झुक गई और कहने लगी—"मैं भगवान् का आश्रय लेती हूं।" पर साधु ने कहा—"भद्दा! मेरा आश्रय मत लो; मनुष्यों और देवताओं में श्रेष्ठ महापूज्य भगवान बुद्धदेव हमारे गुरु हैं, उन्हींकी शरण जाओ।"

साधु सारिपुत्त की सलाह मानकर भद्दा बुद्धदेव के पास गई और उनसे धर्मोपदेश लिया। इसके बाद थोड़े ही समय में यह 'अर्हत्' पद को प्राप्त हुई। थेरी गाथा में १०७ से १११ तक के श्लोक इसी के बनाये हुए हैं।

२४

कथाकार और संघनायिका

पटाचारा

पटाचारा एक इतिहास-प्रसिद्ध स्त्री हुई है। बौद्धधर्म की भिक्षुणी बनने से पहले इसका क्या नाम था, यह मालूम नहीं। पर श्रावस्ती के एक सेठ के घर इसका जन्म हुआ था।

युवावस्था प्राप्त होने पर अपनी जाति के एक धनी वणिक-पुत्र के साथ इसके माता पिता ने इसका विवाह करने का इरादा किया; परन्तु पटाचारा इससे पहले ही एक परजातीय युवक के प्रेम-पाश में बद्ध हो चुकी थी, अतः उस धनी वणिक-पुत्र के साथ विवाह करने से उसने इन्कार कर दिया। जिस समय का यह ज़िक्र है उस समय जाति-उपजाति के बन्धन आज जैसे दृढ़ तो नहीं थे, फिर भी अपनी ही जाति के एक धनी युवक के बदले परजातीय गरीब युवक से अपनी कन्या का विवाह होना पटाचारा के माता-पिता को अच्छा न लगा।

पटाचारा ने जब देखा कि माता-पिता मेरी इच्छानुसार विवाह न होने देंगे, तब एक दिन चुपचाप वह अपने इच्छित पति के साथ घर से भाग खड़ी हुई। भागकर दोनों दूर परदेश में जा बसे और

विधिपूर्वक अपना विवाह करके सुखपूर्वक जीवन बिताने लगे। यहाँ पटाचारा के दो पुत्र हुए।

पटाचारा माता-पिता को छोड़कर चली तो गई, पर माता-पिता के प्रति उसे जो स्नेह था उसमें कोई कमी नहीं हुई। जब बहुत दिन उनसे अलग रहते हो गये, तो परदेश उसे अखरने लगा। पति से उसने यह बात कही, तो वह वापस वहाँ जाने को राज़ी हो गया। तब पति और अपने दोनों पुत्रों के साथ वह माता-पिता से मिलने के लिए चल दी। लेकिन रास्ते में ही दुर्भाग्य ने उसे घेर लिया। पटाचारा के प्रिय पति को साँप के डस लेने से रास्ते में ही मृत्यु हो गई। पटाचार के दोनों पुत्र अभी दूध-पीते बच्चे थे। अतः जैसे-तैसे इस महाकष्ट को सहनकर करुणाजनक विलाप करती हुई पुत्रों के साथ वह रास्ता काटने लगी। लेकिन संकट अकेला नहीं आता। अपने छोटे बच्चे को एक वृक्ष की साया में सुलाकर पटाचारा किसी काम से ज़रा दूर गई थी, कि पीछे से एक जंगली पक्षी आकर उस बालक को उठा ले गया। पटाचारा जंगल में रुदन करने लगी। परन्तु यह संकट भी मानों कम था, जो और भी अधिक एक विपत्ति उस पर आ टूटी। वह यह कि उसका बड़ा पुत्र भी, जो अब उसके जीवन का एकमात्र आधार था, नदी में उतरते वक्त पानी के प्रवाह में पड़कर बह हो गया।

अब तो पटाचारा के शोक की सीमा न रही। शोक से वह पागल होगई। संयोगवश यह स्थान जहाँ पिछली दुर्घटना हुई, श्रावस्ती से बहुत दूर नहीं था; इसलिए जैसे भी हो एकबार तो

श्रावस्ती जाकर माता-पिता के दर्शन कर लेने का उसने विचार किया। परन्तु भाग्य तो चार क़दम आगे ही चलता है। श्रावस्ती तो वह पहुँच गई; किन्तु वहाँ पहुँचकर मालूम पड़ा कि घर गिर पड़ने से माता-पिता उसमें दबकर मर चुके हैं। यह सुनना था कि पटाचारा के होश-हवास बिलकुल उड़ गये। वह सचमुच पागल होगई और सारे शहर में घूमती हुई ज़ोर से अपनी दुःख-गाथा गाने लगी।

इस समय भगवान् बुद्धदेव श्रावस्ती में ही थे। चारों ओर उनके नये धर्म और उनकी महिमा की बातें फैल रही थीं। शोकातुर पटाचारा भी अपनी दुःख-गाथा कहती हुई उनके चरणों में जा पड़ी। बुद्धदेव ने मीठे शब्दों से उसे आश्वासन दिया और ऐसा अमूल्य उपदेश किया कि वह अपना सारा दुःख भूल गई। इस उपदेश का एक वचन 'धम्मपद' में दिया हुआ है। बुद्धदेव का कथन है कि जन्म-मरण देखे बग़ैर सौ वर्ष तक जीते रहने की अपेक्षा जन्म-मरण का सच्चा रहस्य समझकर एक दिन का जीवन-धारण करना कहीं ज्यादा सफल है।

पटाचारा अब संसार त्यागी थेरी (भिक्षुणी) बन गई। थेरी बनकर सर्व-साधारण की सेवा और उन्हें धर्मोपदेश करने में उसने अपना जीवन समर्पित कर दिया। सैकड़ों शोकातुर स्त्रियाँ पटाचारा से उपदेश सुनने के लिए आतीं, और उसके उपदेश एवं आश्वासन से थोड़े ही समय में अपना दुःख भूलकर उसकी शिष्या बन जातीं। 'पिटक' ग्रन्थ पढ़ने पर मालूम पड़ता है कि एक बार पाँच सौ स्त्रियों की सभा में पटाचारा ने ऐसा सुन्दर धर्मोपदेश किया था कि उन

सब स्त्रियों ने बुद्धदेव के नवीन धर्म की दीक्षा ले ली। अपने व्याख्यान-द्वारा एक साथ इतनी बड़ी संख्या पर ऐसा गम्भीर प्रभाव डालने का सौभाग्य उसके अलावा केवल थोड़े-से पुरुषों को ही प्राप्त हुआ होगा।

थेरी-गाथा में पटाचारा की बनाई हुई अनेक गाथायें संग्रहीत हैं। वे सब सरल प्राकृत भाषा में हैं। उनको पढ़ने से मालूम पड़ता है कि ढाई हज़ार वर्ष पहले भारतवर्ष की स्त्रियाँ कैसी सरस रचनायें कर सकती थीं। फिर यह स्मरण रखना चाहिए कि उसमें अकेली पटाचारा की ही नहीं प्रत्युत् अन्य थेरियों की भी रचनायें हैं। कुल ७२ थेरियों की गाथायें हमें मिलती हैं।

एक बार जेतवन के विहार में समारोह हुआ। बुद्धदेव ने उसमें भिक्षुणियों को उनकी योग्यतानुसार पदवियाँ देना शुरू किया। तब पटाचारा को *विनयधरा* (विनयी) भिक्षुणियों में अग्रस्थान दिया गया। यही नहीं, आगे चलकर उत्तम कथाकार और संघनायिका के रूप में भी वह सर्वत्र प्रसिद्ध होगई थी।

२५

सत्पथ पर लानेवाली

पुष्णिका

बौद्धधर्म के भिक्षु-संघ में जिस प्रकार सारिपुत्त, कात्यायान आदि बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानी धर्मोपदेशक हो गये हैं उसी प्रकार भिक्षुणी-संघ में क्षेमा, उत्पलवर्णा आदि भिक्षुणियाँ हुई हैं। कितनी बार तो बड़े-बड़े विद्वान् पुरुषों को भी अपनी अधिकारपूर्ण वाणी से उपदेश करके उन्होंने सन्मार्ग बतलाया था। पुष्णिका भी एक ऐसी ही भिक्षुणि थी।

पाली भाषा के ग्रन्थों में इसकी जो पुण्य कथा वर्णित है, उसमें लिखा है, कि एक दिन सवेरे उठकर यह विहार की भिक्षुणियों के लिए पानी लेने नदी पर गई थी। वहाँ एक ब्राह्मण को, प्रातःस्नान करते देखकर इसने कहाः—

"इस ठण्ड में भिक्षुणि-संघ के भय से (भिक्षुणियाँ कहीं मुझे दोष न दें इस ख़याल से) मैं पानी भरने के लिए इस जल में उतरती हूँ, परन्तु ऐ ब्राह्मण! तू जो सर्दी से ठिठुरे हुए गात्र से इस जल में उतर रहा है वह किसके भय से? तू तो सर्दी के मारे बिलकुल अकड़ा हुआ लगता है।"

ब्राह्मण ने कहा—"पुष्णिका ! तू जानती है कि मैं पाप का निरोध और पुण्य कार्य करता हूँ, फिर भी भला तू यह प्रश्न क्यों करती है ? वृद्ध या तरुण जो कोई पाप करता है वह प्रातः-स्नान करने से उस पाप से मुक्त हो जाता है। क्या तू यह नहीं जानती ?"

पुष्णिका ने कहा—"ओ ब्राह्मण ! स्नान से पाप-मुक्ति होती है, यह बात तू अज्ञानवश कह रहा है।

"मगर, साँप, केंचुआ, मेण्डक आदि जल में जल में रहनेवाले सब प्राणी क्या स्वर्ग ही जानेवाले होते हैं ? पापी मनुष्य क्या स्नान करने से अपने पाप-कर्मों से मुक्ति पाजाते हैं ? अरे ब्राह्मण ! यदि ये नदियाँ तेरा पाप बहाकर ले जायेंगी, तो उसके साथ-साथ तेरा पुण्य भी ले जायेंगी, जिससे तेरा पुण्य भी तेरे पास से चला जायगा। इसलिए, ऐ ब्राह्मण ! जिस पाप के भय से तू नित्य जल में उतरता है, उस पाप को ही तू मत कर। व्यर्थ ही अपने शरीर को ठण्ड से दुःखी क्यों करता है ?"

पुण्णिका की ये बातें सुनकर ब्राह्मण का समाधान हो गया। तब एक वस्त्र लेकर वह पुष्णिका के पास आया और उसे भेंट करते हुए कहा—"पुण्णिका ! तू मुझे कुमार्ग से सुमार्ग पर लाई है, इसलिए यह वस्त्र मैं तुझे प्रदान करता हूँ।"

पुष्णिका ने कहा—"ब्राह्मण ! अपना वस्त्र अपने ही पास रहने दे; मैं उसे नहीं लेना चाहती। मैं तो यही चाहती हूँ कि यदि तू दुःख से डरता हो, दुःख तुझे अप्रिय हो, तो अकेले में या सबके सामने तू कोई पाप-कर्म न कर।

"तू यदि पाप-कर्म करता है, या करेगा, तो तू चाहे जहाँ चला जाय फिर भी तू दुःख से मुक्त नहीं होगा।

अतः यदि तू दुःख से डरता है, दुःख तुझे अप्रिय है, तो तू बुद्ध की शरण जा और उनके संघ का आश्रय ले। शील के नियम का पालन करने से ही तेरा कल्याण योगा।"

पुष्णिका की बातों का उस ब्राह्मण पर इतना प्रभाव पड़ा कि वह बौद्धमतानुयायी हो गया और आगे जाकर एक बड़ा भारी साधु हुआ। तब उसने जो उद्गार प्रकट किये उनमें कहा है कि पहले तो मैं नाम का ही ब्राह्मण था, परन्तु अब सच्चा ब्राह्मण हो गया हूँ। क्योंकि अब मैं त्रैविध (बौद्ध धर्म में बताई हुई त्रिविधा का ज्ञाता) हूँ, वेद-सम्पन्न और ज्ञान-सम्पन्न हूँ, पुरोहित (स्वस्ति-सुख का लाभ लेनेवाला) हूँ, और स्नातक (मुक्त) हूँ।

इस प्रकार कुपथगामियों को सत्य पर लानेवाली पुष्णिका जैसी स्त्रियाँ सचमुच धन्य हैं।

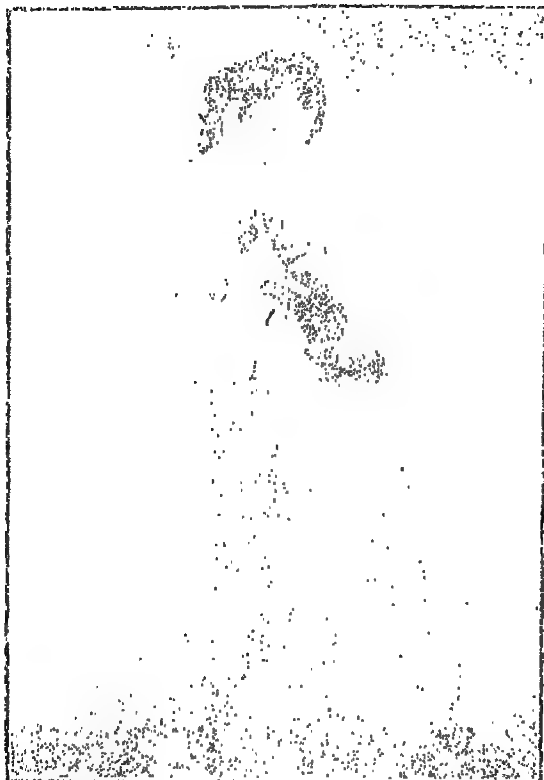
२६

गणिका से समाज-सेविका

अम्बपाली

बुद्ध भगवान् एक बार वैशाली नगर में अम्बपाली गणिका के आम्र-वन में ठहरे हुए थे। अम्बपाली को भी उनके दर्शनों की इच्छा हुई और उनके दर्शनों के लिए वह उस बगीचे में गई। उसके वस्त्राभूषण सामान्य थे, परन्तु उसका सौन्दर्य अपूर्व था। यहाँ तक कि एक बार तो बुद्ध भगवान् की नज़र भी उसपर जम गई। उसके सौन्दर्य को देख मन-ही-मन वह कहने लगे—"कितनी सुन्दर है यह स्त्री ! बड़े-बड़े राजा भी इसके रूप-लावण्य पर मुग्ध होकर इसके वशीभूत हो जाते हैं, तो भी यह कितनी धैर्यवान और शान्त है ! आजकल की स्त्रियों की तरह यह जवानी में मस्त नहीं है; न इसके स्वभाव में चंचलता ही प्रतीत होती है। सचमुच जगत् में ऐसी स्त्रियाँ दुर्लभ होती हैं।"

अम्बपाली आकर बुद्धदेव के पास बैठ गई। बुद्धदेव ने उसे धर्मोपदेश देकर उसके मन में जो थोड़ी-बहुत चंचलता थी उसे भी दूर कर दिया। उसके हृदय की वासनाओं को उन्होंने समूल नष्ट कर दिया। फलतः अम्बपाली का हृदय पिघल गया। धर्मपर उसकी आस्था हुई।



बुद्ध और अम्बपाली

[चित्रकार—श्री० रामगोपाल विजयवर्गीय]

बुद्धदेव के शरणागत होकर उसने कहा—"प्रभु कल आप शिष्य-मण्डली सहित मेरे यहाँ भिक्षा लेने आयेंगे तो मैं आपका बड़ा आभार मानूँगी।" बुद्धदेव ने मौन रहकर अपनी स्वीकृति जतलाई।

इतने में वैशाली के कुछ धनवान् युवक सुन्दर रथ में बैठकर इस आम्र-वन में आये। वे रंग-बिरंगे वस्त्रों और बहुमूल्य अलंकारों से विभूषित थे। बुद्धदेव ने उन्हें लक्ष्यकर अपने भिक्षु शिष्यों से कहा—"देखो ये लोग कितने ठाट-बाट से आये हैं, मानों देवता लोग ही पृथिवी पर क्रीड़ा करने न आये हों!" युवकों ने आकर बुद्धदेव को प्रणाम किया और उन्हें भोजन के लिए अपने यहाँ निमंत्रित किया; परन्तु बुद्धदेव तो इससे पहले ही गणिका अम्बपाली का निमंत्रण स्वीकार कर चुके थे; इसलिए इन धनी सेठों के निमंत्रण को उन्हें अस्वीकार करना पड़ा। सेठों ने चाहा कि बुद्धदेव गणिका को इन्कार करा दें। इसके लिए उन्होंने बहुत-कुछ बहस की, दलीलें कीं, और दलीलों से भी जब काम न चला तो नम्रता-पूर्वक खूब मनुहार की तथा भेंट का भी खूब प्रलोभन दिया; परन्तु बुद्धदेव ऐसे नहीं थे, जो धनवान् का मान रखकर गरीब भक्त का अनादर कर देते। राज-वैभव को तो वह पहले ही लात मार चुके थे; अब उनको धन की क्या परवा थी? अतः धनी युवकों से स्पष्ट रूप में उन्होंने कह दिया, कि तुम सारा वैशाली नगर भी मेरी भेंट कर दो तो भी अब मैं अम्बपाली गणिका के निमंत्रण को अस्वीकार नहीं कर सकता।"

दूसरे दिन प्रातःकाल उठकर नित्य कर्मों से निवृत्त हो तीन वस्त्र पहनकर बुद्धदेव अपने शिष्यों के साथ अम्बपाली के घर गये।

अम्बपाली ने वेश्यावृत्ति से अटूट धन कमाया था। राज महल-जैसा भव्य उसका प्रासाद था। घर के आसपास सुन्दर बगीचा लग रहा था। बुद्धदेव के सम्मान में आज उसने अपने घर को सजाने में कोई कसर बाकी नहीं रक्खी थी। तरह-तरह के भोजन उनके लिए तैयार किये थे। इस स्वादिष्ट भोजन से उसने बुद्धदेव को तृप्त किया और भोजनोपरान्त हाथ जोड़कर भगवान् बुद्ध से निवेदन किया—"महाराज! मेरे ये बाग़-बगीचे, प्रासाद और वस्त्राभूषण सब मैं आप को तथा आपके संघ को समर्पण करती हूँ। इस क्षुद्र भेंट को स्वीकार करके मेरी अभिलाषा पूर्ण कीजिए।" इस प्रकार प्रेम-पूर्वक दी गई भेंट को बुद्धदेव ने स्वीकार किया; और अम्बपाली को अत्युत्तम धर्मोपदेश देकर अपनी शिष्या बना ली।

बुद्धदेव तो वैशाली से फिर अन्य स्थान को चले गये, किन्तु अम्बपाली गणिका इस प्रकार नवजीवन प्राप्त करके सर्व-साधारण की सेवा एवं धर्म-चिन्तन में प्रवृत्त हो गई।

२७

माता-पिता को उपदेश देनेवाली

रोहिणी

वैशाली के एक धनवान ब्राह्मण के घर इसका जन्म हुआ था। धर्म-ज्ञान इसे अपनी बाल्यावस्था में ही हो गया था। साधु-सन्तों पर इसका विशेष प्रेम था।

एक दिन इसके पिता ने इससे कहा—"रोहिणी! रास्ते में कोई श्रमण (भिक्षु) जा रहा हो तो तू उसे बुलाकर मुझसे कहती है कि इसके दर्शन करो, श्रमणों के गुण भी तू सदा गाया करती है, तो कहीं तू भी तो श्रमणी नहीं बनना चाहती है? श्रमण के आते ही तू उसे अन्नदान करती है। भला ये लोग तुझे इतने प्रिय क्यों हैं? जो आलसी और दूसरों के दान पर ही पेट भरनेवाले, लोभी एवं अच्छा खाना खाने के शौक़ीन हैं, उनपर तुझे इतना प्रेम क्यों है?"

रोहिणी ने जवाब दिया—"पिता जी! आपने यही-का-यही प्रश्न अनेक बार मुझसे पूछा है। अच्छा तो आज मैं आपके सामने इन साधुओं के सद्गुणों, उनकी बुद्धिमत्ता और उनके सत्कार्यों का थोड़ा विवेचन करती हूँ।

"ये लोग आपको निरुद्यमी और आलसी दीखते हैं, परन्तु वस्तुतः ये नित्य-प्रति उत्तमोत्तम कर्म करते हैं। राग-द्वेष का ये नाश करते हैं,

इसलिए मुझे प्रिय हैं। पाप के जो तीन मूल हैं, उन्हें ये जड़-मूल से उखाड़ डालते हैं। शुद्ध-चित्त और पाप-शून्य हैं। इसीलिए मुझे ये इतने अधिक प्रिय हैं। काया, मन और वचन से ये पवित्र होते हैं और इनका जीवन पुण्यकर्मों से परिपूर्ण है। पिताजी! ऐसे साधु भला किसे प्रिय न लगेंगे? फिर ये लोग शास्त्र में प्रवीण और धर्म में लीन हैं। इनका जीवन आर्यशास्त्र के अनुकूल है, और ये एकाग्रचित्त होते हैं। इसीलिए मैं इन्हें चाहती हूँ। इनका भ्रम मिट गया है और इनकी इन्द्रियाँ संयम में है तथा दुःख का निदान ये जानते हैं; इससे इन श्रमणों पर मुझे स्नेह है। गाँव में होकर रोज़ जब ये जाते हैं तो किसी के सामने ऊँची नज़र से नहीं देखते, और भोग-विलास एवं धन-दौलत के प्रति उपेक्षा-भाव रखते हैं। अपने लिए कोठियों में धन-धान्य का संचय नहीं करते, पर जो सार-रूपी धन है उसकी शोध करते रहते हैं। इसलिए ये मुझे प्रिय हैं। सोना-चांदी को कभी स्पर्श नहीं करते, जो कुछ मिल जाय उसीसे काम चलाते हैं, भिन्न-भिन्न देशों और जुदे-जुदे कुटुम्बों से आकर एकत्र हुए हैं और एक-दूसरे से प्रेम रखते हुए हिल-मिलकर रहते हैं। इन्हीं सब गुणों के कारण श्रमण मुझे प्रिय लगते हैं।"

रोहिणी का यह उत्तर सुनकर उसका पिता बहुत प्रसन्न हुआ और कहने लगा—"तुझ-सरीखा कन्या-रत्न मेरे घर पैदा हुआ, इस पर मैं अपनेको धन्य समझता हूँ। बुद्ध भगवान, धर्म और संघ में तुझे अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति है। तुझमें जो यह उत्तम विचार उत्पन्न हुआ है, यह तेरे पूर्वजन्मों के पुण्य का प्रताप है। अब आज से हम

भी श्रमणों की सेवा करेंगे, जिससे हम भी पुष्कल पुण्य का संचय कर सकें।"

रोहिणी ने कहा—"पिताजी ! यदि सचमुच ही आपको दुःख अप्रिय हो गया हो और पाप का डर लगता हो, तो बौद्ध धर्म के संघ का आश्रय लीजिए और बुद्ध के उत्तम उपदेशों के अनुसार सदाचार-पूर्ण जीवन बिताइए। तभी आपका जीवन सफल होगा।"

पुत्री का उपदेश सुनकर माता-पिता दोनों ने बौद्ध धम के संघ का आश्रय लिया और फिर सदाचरण एवं धर्म-चिन्तन से अपने पाप का निवारण करके श्रोत्रिय-स्नातक हुए।

रोहिणी भी माता-पिता को उपदेश देकर थेरी हो गई और अपने ज्ञान एवं कर्म के प्रताप से बाद में 'अर्हत्'-पद को प्राप्त हुई।



स्वर्णकार-कन्या

शुभा

शुभा राजगृह के सुनार की लड़की थी। अत्यन्त सुन्दरी होने के कारण इसका शुभा नाम रक्खा गया था। इसकी बुद्धि बहुत तीव्र थी और ज्ञान प्राप्त करने की इसे बड़ी लालसा थी।

बुद्धदेव के राजगृह आने पर एक दिन यह उनके दर्शनों को गई। बुद्धदेव को प्रणाम करके यह एक ओर बैठ गई। बुद्धदेव को जब इसके नीति-सम्बन्धी उच्चविचारों एवं विकासित ज्ञान का हाल मालूम हुआ, तो उन्होंने इसे धर्मोपदेश किया।

पहले तो बहुत समय तक इसने घर में रहते हुए ही साधना की, परन्तु बाद में सांसारिक जंजाल धार्मिक उन्नति में बाधक प्रतीत होने पर महाप्रजापति गौतमी से दीक्षा लेकर साध्वी बन गई। इस प्रसंग का वर्णन करते हुए अपनी बनाई हुई गाथा में इसने कहा है:—

"युवावस्था में सफ़ेद कपड़े पहनकर एक बार मैं धर्म-कथा सुनने गई थी। उस समय मेरे अप्रमत्त चित्त में सत्य का उदय हुआ। समस्त काम और भोग के प्रति मेरे मन में दारुण वैराग्य उत्पन्न होगया। संसार-मार्ग में यात्रा करते हुए जो भी विपत्तियां आसकती हैं, उनपर मैंने विचार किया; और तब संसार-त्याग करने की मुझे इच्छा हुई। पश्चात् मैंने जाति, दास, ग्राम, खेत और भोग-विलास की सब सामग्रियों का त्याग कर दिया। जो कुछ छोड़ने लायक था उस

सबका परित्याग करके मैंने प्रव्रज्या ले ली; और श्रद्धापूर्वक संन्यासिनी-व्रत का पालन करने से सुन्दर सद्धर्म की शिक्षा प्राप्त की। अपनी विपुल सम्पत्ति की ओर मैंने झाँका तक नहीं। सोने-चाँदी का एकबार त्याग करके भला कौन साधु पुरुष ऐसा है, जो फिर उनकी ओर ताकेगा ? सोने-चाँदी से तो कभी चित्त को शान्ति नहीं मिलती। श्रमण को तो धर्म-रूपी चित्त में वित्त मिलता है।

"जो लोग धन से बड़े बने हैं उनके मन में बड़ा क्लेश रहता है; क्योंकि धन के लोभवश सब एक दूसरे से दुश्मनी करते हैं। जो लोग भोग-विलास में निमग्न हैं, उन्हें बहुत दुःख उठाना पड़ता है। मृत्यु, क़ैद, विविध वेदनायें, शोक, संकट और विलाप आदि सब दुःख उन्हें उठाने पड़ते हैं। अतः, हे जाति भाइयो ! तुम शत्रु बनकर मेरे चित्त को भोग-विलास में क्यों फँसाना चाहते हो ? सिर मुँड़ाकर मैं प्रव्रज्या करती हूँ, भिक्षुणियों के से वस्त्र पहनती हूँ, और घर-घर भीख माँगकर जो कुछ मिल जाय उसीसे अपना निर्वाह करती हूँ। कपड़ों में मेरे जगह-जगह पैबन्द लगे हुए हैं। इस प्रकार मैं ऐसी संन्यासिनी बन गई हूँ जिसका घर-बार कुछ नहीं है। महर्षि लोग मर्त्यलोक और स्वर्गलोक दोनों जगह के भोग-विलास का परित्याग करते हैं। युक्तचित्त और क्षेममय होकर वे अटूट सुख पाते हैं। अतः मुझे फिर से भोग में निमग्न न होने दो, उसमें पड़कर इस भवसागर से मेरी मुक्ति नहीं होगी। कामवासनायें तो हमारी दुश्मन हैं, वे हमें मारने और दहकती हुई अग्नि के समान जलानेवाली हैं।

× × × ×

"मोहवश होकर इस पृथ्वीतल के अनेक स्त्री-पुरुष काम-रूपी कीचड़ में फँसते हैं। उन्हें यह ज्ञान नहीं होता कि जन्म-मरण का क्षय काहे से होता है। बस कामवश होकर वे दुर्नीति के मार्ग पर अग्रसर होते हैं, और इस प्रकार अपने ही हाथों अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारते हैं।"

इस प्रकार बहुत विस्तार से मधुरतापूर्वक इसने यह बतलाया कि कामनाओं और भोग-विलास से मनुष्य का कितना नुकसान होता है; और पुनः संसार के बन्धनों में न फँसने का निश्चय करके एकाग्रचित्त से इसने लगातार धर्म-साधना की। आठवें दिन भगवान् बुद्ध ने इसे एक वृक्ष-तले तपस्या करते हुए देखा। वह बहुत प्रसन्न हुए और अपने शिष्यों से कहने लगे:—

"देखो, सुनार-कन्या शुभा वृक्ष-तले कैसी ध्यानमग्न हो रही है! धर्म के द्वारा उसने शान्ति प्राप्त की है। जगत् के सारे दुःख वह भूल गई है। उसे उत्पलवर्णा से दीक्षा लेकर प्रव्रज्या धारण किये आज आठवाँ दिन है। देखो, धर्म और त्रिविद्या से विभूषित विनयी शुभा की मृत्यु आज दूर चली गई है। अभीतक तो वह दासी थी, परन्तु अब वह मुक्त, जितेन्द्रिय एवं निर्मल भिक्षुणी बन गई है। उसके बन्धन टूट गये हैं और अब वह बिलकुल पाप-हीन बन गई है।"

कहते हैं कि भगवान् बुद्ध के मुख से उसकी ऐसी प्रशंसा सुनकर इन्द्रादि देवता भी बड़े प्रसन्न हुए और स्वर्णकार-कन्या होते हुए भी शुभा की पूजा की।

२६

कामान्ध को जीतनेवाली

शुभा जीवकम्बवानिका

यह एक बहुत प्रसिद्ध ब्राह्मण की कन्या थी। राजगृह नगर में इसका जन्म हुआ था। इसका शरीर बड़ा मज़बूत और सुन्दर था। बुद्धदेव राजगृह में थे, तब इसने उनसे दीक्षा ली थी; और संसार-त्याग किये बग़ैर घर में ही यह धर्म-साधना करती थी। बाद में इन्द्रियजन्य सुखों के प्रति अरुचि होकर वैराग्य से प्राप्त होनेवाली शान्ति का इसे भान हुआ; तब महाप्रजावती गौतमी द्वारा स्थापित भिक्षुणी-संघ में यह प्रविष्ट हो गई।

बिम्बिसार राजा के वैद्य जीवक ने राजगृह में एक सुन्दर उपवन बनवाया था, जो आम्र-वृक्ष अधिक होने के कारण आम्र कानन के नाम से प्रसिद्ध था। साधुओं की धर्म-साधना के लिए यह मनोहर एकान्त स्थान बड़ा अनुकूल था। एक दिन शुभा वहाँ जा रही थी, इतने में रास्ते में एक उच्छृंखल धूर्त्त युवक उसे मिला। शुभा के सुन्दर रूप से ललचाकर वह उसका रास्ता रोककर खड़ा हो गया। यह देख शुभा ने उससे कहा—"भाई! मैंने तेरा क्या अपराध किया है, जो तू मेरा रास्ता रोकता है? प्रव्रजिता स्त्री के साथ ऐसा अधम आचरण क्यों करता है? मित्र! ऐसा काम तो किसी भी पुरुष को नहीं करना

चाहिए। अपने पवित्र गुरुजी से मुझे तो यही शिक्षा मिली है और इसी पवित्र ब्रह्मचर्य-व्रत की हम भिक्षुणी-संघ की परिव्राजिकायें अभ्यस्त हैं। फिर भला तू मेरा मार्ग क्यों रोक रहा है? मैं शुद्ध हूँ, पर तेरा मन मैला है। मैं वासना से मुक्त हूँ, पर तेरा मन मैला है। मैं वासना से मुक्त हूँ, पर तेरे हृदय में अधम वासनामें भरी हुई हैं। मैं पाप-भोग से रहित हूँ, फिर तू मुझे हैरान करने के लिए मेरा रास्ता रोके क्यों खड़ा है?"

कामान्ध युवक अपनी वासना-तृप्ति के लिए शुभा का मन अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करने लगा। इसके लिए उसने सहानुभूति और प्रलोभन दोनों का प्रदर्शन किया और कहा—"तू निष्पाप युवती है! तू क्यों भिक्षुणी बनी है? इन गेरुए कपड़ों को दूरकर; और चल, इस रम्यवन में हम रमण करें। देख, फूलों से लदे हुए वृक्ष कैसी मीठी सुगन्ध फैला रहे हैं। मस्त वसन्त-ऋतु का समय है; चल, हम खूब सुखोपभोग करें। फूलों से लदे हुए वृक्ष वायु के थपेड़ों से, ऊपर से नीचे तक झूम रहे हैं। अकेली वन में जाने से तुझे भला क्या सुख मिलना है? नाना प्रकार के सिंह यहाँ फिरते हैं, मस्त हाथी यहाँ चक्कर लगा रहे हैं; ऐसे भयंकर वन में तू अकेली क्यों जाती है? अरी सुन्दरी! तू तो सोने की तरह जगमगाती हुई बनारसी साड़ी पहन, और चित्र-रथ में बैठकर अप्सरा की भाँति इस वन का भ्रमण कर। कमललोचने! मुझे इस संसार में तेरे समान प्रिय और कोई नहीं है। मैं तेरा दास हूँ। तेरे साथ-साथ इस बगीचे में घूमूँगा। मेरा कहना मानकर मेरे घर चलेगी, तो महलों

में रहेगी और दास-दासियाँ सदा तेरी सेवा करेंगी। महीन बनारसी साड़ी पहनेगी, गले में कण्ठियाँ धारण करेगी, मुख पर सुगन्धित-पदार्थ चुपड़ने को मिलेंगे, और सारा शरीर हीरे-मोती के आभूषणों से सुसज्जित होगा। चन्दन के पलंग पर इत्र छिड़के हुए मुलायम बिस्तर और सुन्दर चद्दरों तथा नये, तकिये और मसहरीवाली सेज तुझे सोने को मिलेगी। भला इस दुनिया में किसीको न मिलने वाले खिले हुए कमल जैसे अपने शरीर को ब्रह्मचर्य द्वारा सुखाकर नष्ट क्यों करती है?"

शुभा ने जबाव दियः—"भाई! तुझे मेरे ऊपर इतना अनुराग किसलिए है? मेरा यह शरीर तो शब-पुरी है, मेरा यह कलेवर स्मशान की मिट्टी में ही मिलनेवाला है, तो फिर मेरे इस शरीर पर तू बेभान होकर इतना मुग्ध क्यों हुआ जा रहा है?"

परन्तु युवक तो कामवासना से बिलकुल अन्धा हो रहा था। उसपर शुभा की बातों का कोई असर न हुआ। शुभा की कमल जैसी आँखों, हरिण जैसी चाल आदि के प्रशंसापूर्ण वर्णन कर-करके, वह उससे प्रेम-भिक्षा माँगने लगा। तब शुभा ने ज़रा क्रुद्ध होकर कहा:—

"कुमार्गगामी होना चाहता है? चन्द्रमा के साथ खेल करना चाहता है? मेरु-पर्वत को लाँघना चाहता है? बुद्ध-सुता को अपने घर में रखना चाहता है? मूर्ख, चल यहाँ से! मुझे भोग-विलास की ज़रा भी ख्वाहिश नहीं है। इहलोक या स्वर्गलोक कहीं के सुख मुझे नहीं चाहिएँ। धर्म का पालन करने से मेरी ये वासनायें कभी की मर चुकी हैं। दहकते हुए अंगारों और ज़हर के प्याले के समान मानकर

में विषय-वासनाओं का त्याग कर चुकी हूँ। तेरे पास से मुझे कुछ नहीं लेना। जिसे सत्य का ज्ञान न हुआ हो, जिसका कोई गुरु न हो, ऐसी किसी स्त्री के पास जाकर तू ये सब प्रलोभन बता; मेरे आगे तो तेरा वस नहीं चल सकता। मेरा तो मन साफ़ है। सुख-दुःख या प्रेम, किसीकी मुझे परवाह नहीं है। इस जन्म को अशुभ मानती हूँ और संसार के किसी भी सुख में मेरा मन नहीं लगता। मैं तो बुद्धदेव की श्राविका हूँ। धर्म के आठ अंगों में मेरी गति है। दुःख और पाप से मैं रहित हूँ। अखण्ड सुख में मैं रमी हुई हूँ।

"लकड़ी की रंग-बिरंगी सुन्दर पुतलियाँ बहुतों ने देखी हैं। तरकीब से बाँधी हुई डोरी और कील के सहारे वे कठपुतलियाँ तरह-तरह के नाच नाचती हैं; परन्तु उन डोरियों और कीलों को निकाललें तो वे ढीली पड़कर बिखर जाती हैं। तब उनके समस्त अंग अलग-अलग गिर पड़ते हैं। उस स्थिति में उनके किस अंग को लोग देखना चाहते हैं? इसी प्रकार मनुष्य-शरीर भी धर्म के बिना ढीला पड़ जाता है; ऐसा धर्म शून्य शरीर भला कहीं टिक सकता है? सब निष्फल है।

"दीवाल पर हरताल से रँगा हुआ कोई सुन्दर चित्र हो और मनुष्य भूल में उसे ही सच्चा समझ ले, माया के वश स्वप्न में स्वर्ण का वृक्ष देखे और उसपर ललचाने लगे, इसी प्रकार मुझमें लगाये गये रूप पर मुग्ध होकर तू क्यों नाहक़ मेरी ओर खिंचता है? मेरी इन आँखों पर तू मुग्ध हो गया है—उन्हें कमल आदि की उपमा देता है; परन्तु वस्तुतः वे क्या हैं? एक खोखले वृक्ष में गुथी हुई दो गोलियाँ ही तो हैं। इन आँखों को ही तू चाहता है न? तो लेले इन आँखों को।"

यह कहकर अपनी अंगुलियों से अपनी आँखें निकालकर शुभा ने उस कामी पुरुष के हाथ पर रख दीं और कहा :—

"रे पुरुष ! चक्षुओं का तू आदर करता था, सो ले। अब तो तेरी तृष्णा का नाश हुआ कि नहीं ?"

शुभा का ऐसा साहसपूर्ण कृत्य देख युवक घबरा गया। उसकी सारी कामवासना भाग गई और शुभा को साष्टांग प्रणाम करके वह क्षमा-याचना करने लगा। उसने कहा :—

"अब मैं शुद्ध ब्रह्मचारिणी का अपमान कभी नहीं करूँगा। भगवान् तेरे नेत्र फिर से प्रदान करें ! देवी ! मेरा अपराध क्षमा कर, तूने मेरे पाप का बड़ा कठोर दण्ड दिया है। सचमुच दहकती हुई आग को मैंने अपने गले लगाया है। हलाहल ज़हरवाले साँप को मैंने हाथ में पकड़ा है। आह ! भिक्षुणी, मेरी क्या गति होगी ? मुझे क्षमा कर !"

इसके बाद अपने सत्कर्मों से भिक्षुणी शुभा ने मुक्ति प्राप्त की। पर और भिक्षुणियों को ऐसे प्रसंग न आयें, इसके लिए बुद्धदेव ने यह नियम कर दिया कि वे अकेली न रहा करें।

शुभा के चरित्र पर से मालूम पड़ता है कि कोमल स्त्री-जाति भी अपना शील भंग होने का अवसर उपस्थित होने पर किस प्रकार दुःखों को बर्दाश्त कर सकती है और उसका अन्तःकरण दृढ़ हो तो किसी पापी की इतनी ताक़त नहीं, जो उसका सतीत्व नष्ट कर सके। आशा है, पातिव्रत्य और सतीत्व-रक्षा के पक्षपाती हमारे भारतवर्ष की स्त्रियों के लिए इस देवी का चरित्र बहुत बोधप्रद साबित होगा।

३०

समुद्र-पार जानेवाली सर्वप्रथम धर्म-प्रचारिका

संघमित्रा

आज से कोई ढाई हज़ार वर्ष से भी पहले, भारतवर्ष के एक दिग्विजयी सम्राट् के घर पैदा हुई कन्या ने संसार के धन-वैभव को तुच्छ मानकर धर्म को ही पसन्द किया था और अपनी सारी ज़िन्दगी कुमारी रहकर धर्म-प्रचार के काम में ही अपना अमूल्य जीवन समर्पित किया था।

यह राजकुमारी महाप्रतापी राजाधिराज अशोक के वंश में उत्पन्न हुई थी। एक मत ऐसा भी है कि यह अशोक की ही कन्या थी और हम भी इसी मत को मानते हैं, पर अंग्रेज़ इतीहासकार विनसेण्ट स्मिथ ने इसे अशोक की सगी बहन बताया है। उज्जैन में इसका जन्म हुआ था। और महेन्द्र इसके भाई का नाम था। बहन-भाई दोनों पहले उज्जैन ही रहते थे, पश्चात् ईस्वीपूर्व २६८ में अशोक मगध-साम्राज्य का सम्राट् बना और महेन्द्र व संघमित्रा को लेकर पाटलिपुत्र में आकर रहने लगा। उस समय इस नगर की रमणीयता और सुख-समृद्धि में किसी बात की कमी नहीं थी। तरह-तरह के लोग यहाँ रहते थे। रंग-बिरंगे राजमहल, बाग़-बग़ीचे, सेठ

साहूकारों की हवेलियाँ और तरह-तरह की चीज़ों के बाज़ार दर्शकों को आश्चर्य चकित करते थे। नगर के स्त्री पुरुष महेन्द्र और संघ-मित्र का रूपलावण्य देखकर अतिशय आनन्द प्रकट करने लगे। सम्राट् अशोक ने दोनों भाई-बहन की मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए उनकी सुशिक्षा का सुप्रबन्ध कर दिया।

यहाँ अशोक के जीवन से सम्बन्धित दो-एक बातें बता देना आवश्यक हैं। अशोक चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार का पुत्र था। राजपुत्र होने पर भी वह कुरूप था, इसलिए राजा बिन्दुसार उसे बहुत प्यार नहीं करते थे। पिता और सौतेली माँ की उपेक्षा के कारण, ऐसा मालूम पड़ता है, अशोक भी अपनी यौवनावस्था में बड़ा स्वार्थी और अधार्मिक था। अपनी रक्त-पिपासा और क्रूरता के कारण वह चण्डाकोश अर्थात् यमदूत के नाम से मशहूर था। दन्त-कथा तो यह भी है कि यमराज का अनुकरण करके उसने एक नरकपुरी बनवाई थी, जिसमें अपराधियों को क़ैद रखकर मार-पीट की जाती और तरह-तरह के दुःखों से सता-सताकर उन्हें मार डाला जाता था। लेकिन इसी अशोक में असाधारण शक्ति और नाना प्रकार के सद्गुण भी थे। राजा बिन्दुसार ने अपने से दूर रखने के ख़याल से उसे उज्जैन का सूबेदार बना दिया था। वहीं देवी नामक एक युवती के मनोहर रूप पर वह आकर्षित हुआ और उससे विवाह कर लिया। तदुपरान्त जब पिता बिन्दुसार की मृत्यु हुई तो भाई के ख़ून से हाथ रंगकर अशोक पिता के राजसिंहासन पर बैठा। ईस्वी सन् पूर्व २६९ में उसका राज्यभिषेक हुआ।

राज्याभिषेक के बाद ई० स० पू० २६१ में अशोक ने कलिंग देश (उड़ीसा) के राजा के साथ भीषण युद्ध करके कलिंग को अपने अधीन कर लिया। इस युद्ध में लाखों मनुष्यों का संहार हुआ। इस भयंकर जन-संहार को देखकर अशोक का पत्थर-दिल भी पिघल गया और उसके हृदय में वैराग्य का उदय हुआ। तब उसने दूसरों के राज्यों पर विजय प्राप्त करने की इच्छा का बिलकुल परित्याग कर दिया और उसके जीवन में आध्यात्मिकता की शुरूआत हुई। एक महाप्रतापी, शक्तिशाली बौद्ध संन्यासी ने उसके हृदय पर अधिकार जमाया और देखते ही देखते उसके जीवन में महान् परिवर्त्तन हो गया। बौद्ध धर्म की दीक्षा लेकर उसने महापुरुष बुद्ध के महान आदर्श को स्वीकार किया और विश्वप्रेम से उसका हृदय परिपूर्ण हो गया।

बौद्धधर्म का प्रचार इस समय बहुत ज़ोर से हो रहा था। बौद्ध-धर्म के उपदेशक विश्व-प्रेम का प्रतिपादन करके यज्ञ-याग और पशु-वध का खण्डन कर रहे थे। उनके उपदेशों के फलस्वरूप जीव-हिंसा बहुत-कुछ रुक गई थी। यही नहीं, निम्न जातियों को उच्चवर्णों के त्रास से बचाने का भी उन्होंने बहुत-कुछ प्रयत्न किया था। चारों ओर मैत्री, करुणा और अहिंसा के मंत्र का प्रचार हो रहा था। अशोक के हृदय तक भी प्रेम और करुणा की यह आवाज़ पहुँची और उसने बौद्धधर्म ग्रहण कर लिया। दीन-दुखी नर-नारी और पशु-पक्षियों के दुःख-क्रन्दन से उसका हृदय द्रवित हो उठा और उनके संकट-निवारण के लिए उसने अपना राजभण्डार खुला कर दिया। करोड़ों

सुवर्ण-मुद्रायें दान-पुण्य में जाने लगीं। पशु-पक्षियों की चिकित्सा के लिए चिकित्सालय खुले। मनुष्य-जाति के ज्ञान, धर्म एवं नीति की उन्नति और उनकी सुख-वृद्धि के लिए अशोक ने जितने उपाय किये उतने बहुत कम राजा-महाराजाओं ने किये होंगे।

ऐसे सम्राट् की देख-भाल में ही संघमित्रा और राजकुमार महेन्द्र का लालन-पालन हुआ था। बहन-भाई को देखते ही ऐसा लगता था, मानों एक ही फूल की दो सुन्दर कलियाँ न हों। दोनों का स्वभाव बड़ा मधुर था। दोनों ही पर अशोक का बड़ा स्नेह था। साथ-साथ ही दोनोंने विविध विषयों की शिक्षा पाई। उच्च शिक्षा के फलस्वरूप संघमित्रा का हृदय बहुत उदार और संस्कृत हो गया था। उसे निर्मल ज्ञान प्राप्त हुआ और हृदय में धर्म-भाव की जागृति हुई। इस समय संघ-मित्रा की आयु १८ और महेन्द्र की २० वर्ष थी। महाराज अशोक ने महेन्द्र को युवराज-पद पर अभिषिक्त कर स्वयं भिक्षु बनने का संकल्प किया; परन्तु इतने में ही बुद्धदेव की पवित्र आत्मा ने बहन-भाई को धर्म-प्रचार का महान् व्रत ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया। तब बौद्धधर्म के एक आचार्य ने महाराज अशोक से कहा—"राजन्! बौद्ध धर्म का सच्चा मित्र तो वही है, जो धर्म की खातिर अपने पुत्र-पुत्री को भी समर्पित करदे।" आचर्य की इस बात ने अशोक के हृदय पर असर किया। स्नेहपूर्ण नेत्रों से उसने संघमित्रा और महेन्द्र के तेजस्वी मुख की ओर देखकर पूछा—"क्यों, क्या तुम भिक्षु-धर्म स्वीकार करने के लिए तैयार हो?"

बहन-भाई दोनों ने पिता के मुँह से निकली हुई यह बात सुनकर

अपनेको बड़ा भाग्यवान् माना और बड़ी प्रसन्नता के साथ महाराज अशोक से कहा—"पिताजी ! आपकी आज्ञा प्राप्त होते ही हम इस महान् व्रत को ग्रहण करके अपना मनुष्य-जन्म सफल करेंगे ।"

यह सुनते ही महाराज अशोक ने भिक्षु-संघ को कह दिया कि "भगवान तथागत बुद्धदेव के पवित्र धर्म के लिए आज मैं अपने प्रिय पुत्र-पुत्री को समर्पित करता हूँ ।

तब महेन्द्र और संघमित्रा बौद्धधर्म की प्रचलित पद्धति के अनुसार दीक्षा लेकर भिक्षु और भिक्षुणी बन गये । धर्मपाली और आयुपाली नामक दो धर्मशीला भिक्षुणियाँ संघमित्रा को बड़ी अच्छी तरह भिक्षुणियों की साधना के गहन तत्त्वों की शिक्षा देने लगीं ।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि महात्मा बुद्ध के धर्म में अपना सब-कुछ त्याग देनेवाले संन्यासी-संन्यासिनियों के जो वर्ण थे वही भिक्षु और भिक्षुणी नाम से प्रसिद्ध थे । ये भिक्षु-भिक्षुणियाँ विवाह नहीं करते थे; कठोर वैराग्य-व्रत धारण करके रात-दिन धर्म-साधना और प्राणियों के कल्याण की चिन्ता में लगे रहते थे। संघमित्रा ने भी भिक्षुणी बनकर सब तरह के सुख की लालसा का परित्याग कर दिया और अपनी वासना पर विजय प्राप्त करके धर्म-साधना करने लगी ।

साधारणतः तो भिक्षुणियों को यही उपदेश दिया जाता था कि "तृष्णा छोड़ दो । अल्प सन्तोषी बनो । व्यर्थ के बनाव-श्रृंगार से दूर रहो और एकान्त में रहकर ध्यान तथा धर्म-साधना करो । आलस्य छोड़कर परिश्रमी बनो । अभिमान का परित्याग कर सुशील, विनयी

गैर नम्र बनो; और सब के प्रति सद्भाव रखते हुए सन्तोषपूर्वक गीवन-यापन करो। शुद्धाचरण के द्वारा अपने व्रत का पालन :रो।"

भिक्षु-भिक्षुणियों को किस प्रकार की धर्म-साधना करनी पड़ती थी, स बारे में विद्वान् बंगाली लेखक श्री सत्येन्द्रनाथ ठाकुर लिखते हैं:— विषय-वासना से दूर रहते हुए भिक्षुओं को एकान्त में पंच भावनाओं ी साधन करनी पड़ती थी। उनकी भावना के ये पाँच प्रकार थे। त्री, करुणा, मुक्ति, अशुभ और उपेक्षा।

"*मैत्री*—देवता हो या मनुष्य, सब प्राणी सुखी हों, शत्रु का भी ला हो, सब रोग-शोक और पाप-ताप से मुक्त हों। इस तरह के शुभ ाचार को मैत्री-भावना कहते हैं।

"*करुणा*—दुःखी के दुःख के प्रति समवेदना प्रकट करना और ात-दिन ऐसे ही काम करने का विचार करना जिनसे प्राणियों के :खों का नाश हो और उनके सुख में वृद्धि हो। इसे करुणा-भावना हते हैं।

"*मुक्ति*—सौभाग्यशालियों के सुख में सुखी होना, उनके सुख- ीभाग्य के स्थायित्व की कामना करना; इसे मुक्ति-भावना कहते हैं।

"*अशुभ*—शरीर व्याधियों का घर है, बिजली की चमक के समान ण-भंगुर है, बुलबुले के पानी के समान मिथ्या है, और मल-मूत्र- सीना आदि गन्दी चीज़ों से भरा हुआ है; मानव-जीवन जन्म-मृत्यु के ाधीन और दुःखमय एवं क्षण-भंगुर है; इस तरह के विचारों को ाशुभ-भावना कहते हैं।

"उपेक्षा—सब जीव बराबर हैं, कोई प्राणी ऐसा नहीं जो अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक प्रेम या तिरस्कार का पात्र हो। बल-दुर्बलता, द्वेष-ममता, धन और ग़रीबी, यश-अपयश, जवानी-बुढ़ापा, सुन्दर-असुन्दर, सब गुण और सब अवस्थायें समान हैं। ऐसी साम्य-भावना रखने को उपेक्षा कहते हैं।"

रोज़ सुबह-शाम इस प्रकार के उच्च विषयों का चिन्तन करने से नर-नारी बहुत गहरे भावों में डूब जाते हैं जिससे उनका मन बहुत उन्नत और हृदय विशाल होता है, यह बात सहज ही समझी जा सकती है। इस साधना-प्रणाली के ही कारण सुजाता, विशाखा आदि अनेक बौद्ध महिलाओं ने उन्नत जीवन प्राप्त किया था। यही साधन राजकन्या संघमित्रा ने भी ग्रहण किया और उत्तरोत्तर धार्मिक जीवन की एक के बाद एक ऊँची सीढ़ी पर चढ़ने लगी।

संघमित्रा का बड़ा भाई महेन्द्र बत्तीस वर्ष का हो जाने पर धर्म-प्रचार के लिए सिंहलद्वीप गया। सिंहलदेश का राजा तिष्य, आध्यात्मिक ज्योति से प्रकाशित महेन्द्र का शान्त-सुन्दर स्वरूप देखकर, बड़ा विस्मित हुआ और अत्यन्त आदर एवं श्रद्धा के साथ उसने महेन्द्र को अपना मेहमान बनाया। फलतः सिंहल के हज़ारों स्त्री-पुरुष महेन्द्र का उपदेश सुनकर बौद्ध धर्म ग्रहण करने लगे।

कुछ दिनों बाद सिंहल की राजकुमारी अनुला ने अपनी पाँच सौ सखियों के साथ भिक्षुणी-व्रत लेने का संकल्प किया। अब महेन्द्र को महसूस होने लगा कि इतनी स्त्रियों को भलीभाँति धर्म-शिक्षा देने और सिंहल की स्त्रियों में धर्म-प्रचार करने के लिए किसी प्रशिक्षित धर्म

धर्मशील भिक्षुणी की बहुत ज़रूरत है। तब इसके लिए उसने अपनी प्यारी बहन संघमित्रा को सिंहल भेजने के लिए अपने पिता सम्राट् अशोक को पत्र लिखा। राजकुमारी संघमित्रा को तो अब धर्म के सिवा और किसी पार्थिव वस्तु पर आसक्ति रही ही नहीं थी, अतः जब उसने सुना कि धर्म-प्रचार के लिए दूर परदेश सिंहल में भाई महेन्द्र के पास जाना होगा तो उसका हृदय आनन्द में सराबोर हो गया। पुण्यशीला संघमित्रा प्रसन्नता के साथ मा-बाप और सगे-सम्बन्धियों के मायाजाल को नष्टकर, सिंहल जाने के लिए समुद्रगामी जहाज़ में सवार हो गई।

संघमित्रा से पहले भारत की और कोई भाग्यवान् स्त्री धर्म-प्रचार के लिए इतनी दूर परदेश में गई थी या नहीं, यह हम नहीं जानते। पर यह शुभ दिन सच पूछो तो भारतीय स्त्रियों के इतिहास में स्मरण रखने योग्य दिन है; इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं। कवि-कल्पना से काम लें तो इस दिन, संघमित्रा को लेकर, यह जहाज़ कोई नवीन गौरवानुभव करते हुए सागर की तरंगों पर आनन्द के साथ झूमता-झूमता जाता होगा। यह भी सम्भव है कि समुद्र-तट के निवासी आर्य नर-नारियों ने जहाज़ के इधर-उधर खड़े होकर संन्यासिनी राजकन्या के मस्तक पर पुष्पवृष्टि भी की होगी।

संघमित्रा के सिंहलद्वीप में पहुँच जाने पर उसकी तेजस्वी मुख-मुद्रा, तपस्विनी-वेश और अपूर्व धर्म-भाव को देखकर वहाँ के स्त्री-पुरुषों के हृदयों में किस प्रकार की भक्ति और विस्मय के भाव उत्पन्न हुए होंगे, यह जानने का कोई साधन तो हमारे पास उपलब्ध नहीं है;

परन्तु सम्राट् अशोक के जीवन चरित्र से यह भी मालूम पड़ता ही है कि सिंहलदेश जाकर संघमित्रा ने वहाँ एक भिक्षुणी-संघ की स्थापना की थी। इस पर से यह स्पष्ट है कि उसके त्याग-मंत्र से पवित्र बने हुए जीवन का प्रभाव सिंहल-निवासियों पर बहुत अच्छा पड़ा था।

इस प्रकार इस राजकन्या के बारे में विशेष वृत्तान्त तो हमें उपलब्ध नहीं है; परन्तु जो भी थोड़ी बातें हम जान सके हैं उसपर से कल्पना के द्वारा मन-ही-मन उसकी जो मूर्ति चित्रित होती है उसके आगे हमें अपना सिर झुकाना ही पड़ता है। ज़रा विचार कर देखें तो मालूम होगा कि धर्म-प्रचार से अधिक गौरवपूर्ण कार्य इस संसार में और कोई नहीं है। भला आत्मोत्सर्ग करके सत्य की अमृत-वाणी मनुष्य-जाति को सुनाने से बढ़कर ऊँचा काम और क्या हो सकता है? लगभग २१७५ वर्ष पूर्व भारत के एक चक्रवर्ती महाराजाधिराज की कन्या संघमित्रा ने इस धर्म-प्रचार के कार्य का गौरवानुभव किया था और कोई भी विचार किये बग़ैर धर्म की ख़ातिर अपना अमूल्य जीवन समर्पण कर दिया था। जबतक भारत का इतिहास क़ायम रहेगा तबतक इस भारत-रमणी के पवित्र नाम का उच्चारण करते हुए प्रति दिन सच्चे अन्तःकरण से हमें उसके प्रति अपनी श्रद्धा-भक्ति प्रकट करनी ही चाहिए।

महावंश आदि बौद्ध ग्रन्थों में भी संघमित्रा का उल्लेख मिलता है। महावंश में लिखा है कि "संघमित्रा ने पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था। हथलहक नगर में रहते समय उसने धर्मोन्नति के लिए अनेक पुण्य कर्म

किये थे; और ६१ वर्ष की आयु में परिनिर्वाण प्राप्त किया था। सिंहल के राजा ने अत्यन्त सम्मानपूर्वक बड़े ठाट-बाट से उसकी अन्त्येष्टि की थी।"

भारतवर्ष की महत्ता-सूचक प्रत्येक बात पर अश्रद्धा रखनेवाले अंग्रेज़ लेखक पहले तो संघमित्रा को ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में स्वीकार करने को ही तैयार नहीं थे; परन्तु अब तो विनसेण्ट स्मिथ जैसे प्रसिद्ध इतिहासकार तक उसका अस्तित्व स्वीकार करते हैं और पहले की अपनी भूल को स्वीकार करते हैं।

३१

धर्म के लिए मरनेवाली

श्रीमती

राजा बिम्बिसार बुद्धदेव का परमभक्त था। एक दिन बुद्धदेव की बहुत विनती करके उसने उनके पैर के नाखून का एक टुकड़ा माँग लिया था। उस टुकड़े को बड़ी सावधानी से अपने राजमहल के बगीचे में गाड़कर, उसके ऊपर सुन्दर शिल्पकला से विभूषित एक स्तूप बनवाया। संध्या समय राजकुटुम्ब की बहू-बेटियाँ स्वच्छ वस्त्र धारणकर अपने सुकुमार हाथों में फूलों की छबड़ियाँ ले उस स्तूप के पास जातीं और सुवर्ण के दीयों में बत्ती सँजोती थीं और दीपक जलाती थीं।

राजा बिम्बिसार की मृत्यु के बाद उनका पुत्र अजातशत्रु गद्दी पर बैठा। पिता जितना बुद्धभक्त था, पुत्र उतना ही बौद्ध धर्म का दुश्मन निकला। तलवार के ज़ोर पर उसने बौद्धधर्म को अपनी राजधानी से निकाल डाला। वैदिक यज्ञों की फिर से शुरुआत की, और बौद्ध धर्मग्रन्थों को उनमें स्वाहा कर दिया। सारे शहर में उसने ढिंढोरा पिटवाया कि "इस जगत् में वेद, ब्राह्मण और राजा इन तीनों के अलावा और कोई पूजा कराने का अधिकारी नहीं है। जो



श्रीमती

[चित्रकार—श्री० रविशंकर रावल के सौजन्य से]

इसपर ध्यान नहीं देगा, या इसके विरुद्ध करेगा, उसे दण्ड दिया जायगा।"

राजा बिम्बिसार के यहाँ श्रीमती नामकी एक दासी थी। बुद्धदेव के प्रति उसे बड़ी भक्ति थी। राजाज्ञा से डरकर नगर के अनेक स्त्री-पुरुषों ने बुद्धदेव की पूजा करना छोड़ दिया। यह देख श्रीमती का भक्त-हृदय काँप उठा। उसने निश्चय किया कि चाहे जो हो पर मैं तो अपना नित्य-नियम नहीं छोड़ूँगी। जिस दिन ढिंढोरा पिटा उसी रात को शुद्ध शीतल जल से स्नानकर हाथ में फूल और दीपक की थाली ले श्रीमती राजमहिषी के पास गई और उनसे स्तूप की पूजा के लिए जाने की बात कही।

महारानी ने काँपते हुए कहा—"तुझे मालूम नहीं कि अजातशत्रु ने ढिंढोरा पिटवाया है कि जो कोई पूजा करेगा उसे सूली चढ़ाया जायगा या देश निकाले की सज़ा दी जायगी?"

श्रीमती वहाँ से चलकर राजवधू अमिता के पास गई। वह उस समय शृंगार कर रही थी। श्रीमती के हाथ में पूजा की सामग्री देख वह उसके आने का कारण समझ गई और उपालम्भ के साथ कहने लगी—"मूर्खा! तुझे यहाँ तक पूजा की सामग्री लाने का साहस ही कैसे हुआ? अभी को अभी यहाँ से चली जा, नहीं कोई देखेगा तो बड़ा ग़ज़ब हो जायगा।"

श्रीमती दूसरे कमरे में गई। राजकुमारी शुक्ला अस्ताचलगामी सूर्य के प्रकाश में खिड़की खोलकर लेटी-लेटी कोई पद्य-पुस्तक पढ़ रही थी। श्रीमती को पूजा की सामग्री के साथ आते देखकर वह

चौंकी और उसके पास जाकर धीरे-धीरे कहने लगी—"अरी! क्या तुझे राजाज्ञा का पता नहीं है? भला जान-बूझकर मृत्यु के मुख में जाने के लिए क्यों निकली है?"

इस प्रकार पूजा की थाली लेकर श्रीमती दरवाज़े-दरवाज़े भटकी और कहने लगी, कि "ऐ नगरवासियो! प्रभु की पूजा का समय होगया है। चलो, पूजा के लिए चलो।" पर यह सुनते ही लोग डरने लगते और कोई-कोई तो उसे अपशब्द भी कहते। श्रीमती लोगों की दुर्बलता का विचार करके विस्मित होने लगी।

होते-होते दिन का आख़िरी प्रकाश भी लुप्त होगया। रास्ते में अन्धेरा छा गया और लोगों का आना-जाना बन्द होगया। कोलाहल शांत होगया; और राजमन्दिर में आरती का घण्टा बजने लगा।

शरदऋतु की इस अँधेरी रात में स्वच्छ आकाश में असंख्य तारे चमक रहे थे।

इस समय किसी का बुद्धदेव के स्तूप के पास जाना संभव नहीं था। अतः दीर्घरात्रि में राजमहल के पहरेदार एक मनुष्याकृति को देखकर चौंक पड़े आगे बढ़कर देखा तो राजा के बगीचे के एक कोने में, घोर अन्धकार के बीच, बुद्धदेव के स्तम्भ के चारों ओर दीयों की ज्योति जगमगा रही थी।

सिपाही नंगी तलवारें लेकर उस ओर दौड़े तो क्या देखते हैं कि एक स्त्री स्तूप के पास बैठी हुई है। उस स्त्री के नेत्र बन्द थे और होंठ कुछ-कुछ हिल रहे थे। राजा के सिपाहियों ने पूछा—"इस तरह आधी रात को यहाँ आकर राजाज्ञा का उल्लंघन करनेवाली तू कौन

है ?" श्रीमती ने शान्ति के साथ उत्तर दिया—"मैं बुद्ध की दासी श्रीमती।"

तुरन्त नंगी तलवार श्रीमती की गरदन पर पड़ी, और मन्दिर का सफ़ेद पत्थर ख़ून से लाल हो गया।

शरद की उस स्वच्छ रात्रि के प्रसाद-कानन में स्तूप के सामने के दीये आख़िरी बार बुझा दिये गये, पर श्रीमती का नाम अमर होगया।

राजा-प्रजा-रक्षिका

वाक्पुष्टा

प्रकृति के क्रीड़ा-क्षेत्र काश्मीर में, विक्रम संवत् के १२६ वर्ष पहले, तुंजीन नामक एक प्रतापी राजा राज्य करता था। वह बड़ा पराक्रमी, उदार और दानशील था। वाक्पुष्टा उसीकी रानी थी। काश्मीर के इतिहास-लेखक ने लिखा है कि "इन दोनों राजारानी ने पृथ्वी को इस प्रकार विभूषित कर रक्खा था जैसे गंगा और अर्द्धचन्द्र ने शिवजी की जटा को सुशोभित कर रक्खा हो; अथवा, यों कहो कि इन दोनों ने नाना प्रकार के वर्ण से काश्मीर को इस प्रकार मनोरम बना दिया था जैसे बिजली और बादल मिल-कर इन्द्रधनुष की शोभा उत्पन्न करते हैं। राजा ने तुंगेश्वर नामका शिवालय बनवाया था और प्रजा को धूप से तपते देख सड़क पर छाया दार वृक्ष लगाने की विशेष व्यवस्था की थी। रानी वाक्पुष्टा भी उसीकी तरह परोपकारिणी थी। प्रजा को वह अपनी सन्तान के समान समझती और उसके कष्ट-निवारण के लिए सदा तत्पर रहती थी।"

इस प्रकार इस राजदम्पती का सांसारिक जीवन बड़े सुख के साथ व्यतीत होरहा था कि एकाएक इनपर एक भारी मुसीबत आ पड़ी। उनके राज्य की उपजाऊ भूमि में शरद्-कालीन फ़सल पर,

भादों के महीने में, इतना अधिक बर्फ़ पड़ा कि सब फ़सल चौपट होगई। फलतः वहाँ घोर दुर्भिक्ष पड़ा। लोग दाने-दाने के मुहताज हो गये और हर रोज़ हज़ारों स्त्री-पुरुष काल-कवलित होने लगे। पेट की ज्वाला के आगे पत्नी का प्रेम, सन्तान का स्नेह, पिता का सम्मान आदि सब अच्छी बातें विस्मरण होगईं। एक-एक मुट्ठी नाज के लिए लोकलाज, शर्म, स्वाभिमान, कुल-गौरव आदि को तिलाञ्जलि दी जाने लगी। जहाँ देखो वहीं अस्थि-पिंजर शरीरवाले मनुष्य मूर्तिमान प्रेत बने हुए रोटी के एक-एक टुकड़े के लिए लड़ते-झगड़ते मिलते।

तुंजीन और वाक्पुष्टा ने प्रजा का यह भीषण हाहाकार देखा तो अपना सब आनन्द भूल गये। प्रजा का आर्त्तनाद सुनकर वे राज-महल से निकल पड़े और अपना सारा राजकोष, सब मालमत्ता, दुर्भिक्ष-पीड़ित प्रजा को अन्न पहुँचाने के लिए मुक्तकर दिया। राजा-रानी स्वयं रास्ते-रास्ते और घर-घर जाकर पीड़ितों को अन्न बाँटने लगे। जंगल, स्मशान, गली-कूँचा, घर-बार कोई स्थान ऐसा नहीं रहा जहाँ राजा-रानी ने स्वयं जाकर भूखों को भोजन न कराया हो।

इस प्रकार प्रजा की सेवा करते-करते राज्य का सारा ख़ज़ाना खाली हो गया, और अन्न भी सब ख़त्म हो गया। तब राजा बड़ा निराश हुआ। उसका धीरज टूट गया। एक-दिन सारे दिन परिश्रम करके भूखा-प्यासा वह घर आया और प्रजा का आर्त्तनाद सुनकर बहुत दुखी होने लगा। उसकी आँखों में से नरनर आँसू बह रहे थे। रानी वाक्पुष्टा इस समय शयनागार में भगवान से प्रार्थना कर रही थी कि "भगवन्! हम पर दया करो। हमारी ग़रीब

प्रजा का दुःख सीमातीत हो गया है। हे दयासागर! ज़रा हमारी तरफ़ देखो और प्रजा के अन्न-कष्ट को दूर करो।" पति का दुःख सुनकर वह उसके पास गई और प्रेमपूर्वक उनके शोक व चिन्ता का कारण पूछा। राजा ने अपने आँसू रोककर कहा—"देवी! मेरा तो यह विश्वास हो गया है कि हमारे ही अपराध से ग़रीब प्रजा यह दुःख उठा रही है। मेरे जैसे अभागे राजा को धिक्कार है, जिसकी आँखों के सामने प्रजा इस प्रकार मर रही है। इस पृथ्वी में मेरी ग़रीब प्रजा को कहीं भी आश्रय नहीं रहा। इस घोर संकट से अपनी प्यारी प्रजा की रक्षा न कर सकूँ तो मेरे राजा बनने और ज़िन्दा रहने का प्रयोजन ही क्या रहा? जहाँतक हो सका मैंने उसको बचाने की कोशिश की,अन्न पहुँचाकर उसकी जीवन-रक्षा की, पर अब क्या करूँ? अब तो देश में कहीं अन्न ही नहीं रहा। मुझे यही फ़िक्र है कि अब अपनी प्रजा का उद्धार कैसे करूँ? बर्फ़ के पर्वतों के कारण चारों तरफ़ का रास्ता बन्द हो गया है जिससे लोग कहीं आ-जा भी नहीं सकते। पिंजड़े में बन्द पक्षी के समान प्रजा की दशा हो गई है। ऐसी स्थिति में क्या किया जाय, यह मुझे नहीं सूझता। अतः जलती हुई आग में कूदकर प्राण दे देने का मैंने निश्चय किया है।" यह कहते-कहते राजा का जी भर आया और मुँह ढँककर वह रोने लगा।

रानी पति के मन की व्यथा समझ गई और उसे धीरज बँधाने का प्रयत्न करने लगी। मीठे विनम्र शब्दों में उसने कहा—"राजन्! प्रजा के पाप के कारण आज आपकी ऐसी मति हुई है जो आप कायर मनुष्य की तरह बातें कर रहे हैं। आत्म-हत्या का

विचार तो वीर-पुरुष को कभी शोभा नहीं देता, यह आपको कैसे सूझा ? राजा असाध्य दुखों को दूर न कर सके तो फिर उसका बड़प्पन ही क्या ? सत्यव्रती राजा की आज्ञा का देवता तक उल्लंघन नहीं कर सकते। पति में भक्ति रखना स्त्री का धर्म है, अन्दर ही अन्दर द्रोह और षड़यंत्र न करना मंत्री का धर्म है, और सब तरह प्रजा की सेवा करना राजा का धर्म है। अतः व्रतधारियों में श्रेष्ठ स्वामी, निराश मत बनो। जबतक हमारे शरीर में प्राण हैं तबतक प्रजा की रक्षा करना ही हमारा कर्तव्य है। एक भी मनुष्य को हम मौत के मुँह से बचा सकेंगे तो हमारा जीवन सार्थक होगा। हमारे सारे प्रयत्न जब निष्फल हो जायंगे, एक-एक कर सब प्रजाजन काल के ग्रास बन जायँगे, तब बेशक हम दोनों मजबूर होकर चिता में चढ़ेंगे; परन्तु जबतक ऐसा नहीं होता तबतक तो हमें निराश होने की कोई ज़रूरत नहीं है। यह तो भगवान् ने हमारी परीक्षा ली है। हमारी पवित्र निष्ठा का वह परम कृपालु पिता ज़रूर प्रतिफल देगा। जो मैंने सच्चे मन से पति और प्रभु की सेवा की है, तो भगवान् इस समय अवश्य हमारी सहायता करेंगे।"

यह कहकर वाक्पुष्टा एकनिष्ठा के साथ भगवान् की प्रार्थना में निमग्न हो गई। उसने निश्चय कर लिया था कि आज मैं अपनी प्रार्थना से भगवान् को सन्तुष्ट करूँगी, नहीं तो पति से पहले मैं ही इस संसार का परित्याग करूँगी। घण्टों वह प्रार्थना करती रही। आखिर दीनानाथ प्रभु का दिल पिघला और सहसा आकाश से कबूतरों की वर्षा होने लगी। छोटे-बड़े संख्यातीत कबूतरों के मृतदेह दुर्भिक्ष-पीड़ितों के पास आ पड़े, जिनके द्वारा बहुत दिन तक उन्होंने अपनी भूख बुझाई।

'राजतरंगिणी' के लेखक का अनुमान है कि पतिव्रता वाक्पुष्टा ने अपने पुण्य प्रभाव से कबूतर-जैसी किसी और ही चीज़ की सृष्टि करके प्रजा का संकट निवारण किया था, क्योंकि प्राणि-मात्र पर दया रखने और अहिंसा का व्रत धारण करनेवाले राजा-रानी असंख्य कबूतरों की हिंसा का कलंक अपने ऊपर लगने दें, यह सम्भव नहीं मालूम पड़ता। हमारा अपना अनुमान यह है कि बहुत ज़्यादा बर्फ़ पड़ने से पक्षी बहुत बड़ी तादाद में मरे होंगे और जहाँ पेट की ज्वाला शान्त करने का ही सवाल मुख्य हो वहाँ मनुष्य विधि-निषेध का बहुत विचार नहीं करता, इसलिए इस संकट-काल में उनके मांस से काश्मीर-निवासियों ने अपनी क्षुधा-ज्वाला शान्त की हो तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। अस्तु।

थोड़ी देर में आकाश निर्मल हो गया और राजा के शोक के साथ-साथ अकाल भी शान्त हो गया। राजा ने रानी वाक्पुष्टा को अपनी प्रजा की रक्षक मानकर उसे बहुत-बहुत धन्यवाद दिया।

रानी वाक्पुष्टा पुण्य-मूर्ति थी। ब्राह्मणों के लिए उसने दो विशाल अग्रहार (अन्नसत्र) बनवाये थे, जहाँ ग़रीबों और ब्राह्मणों को मुक्त-हस्त होकर अन्न-दान किया जाता था। सैकड़ों वर्ष तक इन अग्रहारों में राहगीर आश्रय लेते और रानी वाक्पुष्टा को आशीर्वाद देते थे।

राजा तुंजीन छत्तीस वर्ष तक राज्य करके अपनी भरी जवानी में स्वर्गवासी हुआ, तब पति-विरह से पीड़ित होकर रानी वाक्पुष्टा ने भी अपने प्राण त्याग दिये। जिस जगह रानी सती हुई, वह स्थान आज भी वाक्पुष्टावटी के नाम से प्रसिद्ध।

३३

कुशल और साहसी पत्नी

देवस्मिता

देवस्मिता धर्मगुप्त नामक एक वैश्य की कन्या थी, जो देव-नगरी में रहता था। उसने अपनी कन्या को बाल्यावस्था में ही अपनी सामर्थ्य के अनुसार, लिखना-पढ़ना सिखा दिया था।

देवस्मिता रूपवती, गुणवती और धर्मात्मा स्त्री थी। रामायण और महाभारत की कथाओं के अतिरिक्त बौद्ध धर्म की कथायें भी वह भली भाँति जानती थी।

देवस्मिता के वयःप्राप्त होने पर धर्मगुप्त ने ताम्रलिप्ती नगर के मणिभद्र नामक एक सुन्दर और धार्मिक युवक के साथ उसका ब्याह कर दिया।

पति-पत्नी में बहुत दृढ़ प्रेम-सम्बन्ध था। देवस्मिता पतिव्रता स्त्री थी। घर के सब लोग उससे प्रसन्न थे। धर्म की शिक्षा मिली हुई होने से वह साधु-सन्त और संन्यासियों की सेवा-सहायता करती थी। जो कोई भूखा-प्यासा जा पहुँचता उसकी ख़ातिर-तवाज़ो करती। अड़ोस-पड़ोस की बहू-बेटियों से ख़ास तौर पर प्रेम रखती। सवेरे बहुत जल्दी उठती और नहा-धोकर सबसे पहले अपनी सास तथा

घर की अन्य बड़ी स्त्रियों के पैर छूती; फिर घर के काम-काज में लग जाती। सास-ससुर को अपने काम-काज और सेवा से ऐसे प्रसन्न रखती कि वे इसे ही घर की मालकिन मानते और इससे पूछे बग़ैर पानी तक न पीते। पड़ोस की स्त्रियों से मिलने जाती तो उनसे धर्म की चर्चा करती; और देवालय में जाती तो वहाँ भी गपशप के बजाय धर्म और नीति संबंधी ही बातचीत करती। इस प्रकार ससुराल में आने के थोड़े ही दिनों के अन्दर इसने वहाँ सबको अपने वश में कर लिया। सब सच्चे जी से इसे चाहते और दूसरों के प्रति तथा धर्म-संबंधी इसके प्रेम और पूजा-पाठ को देखकर इसके सास-ससुर बार-बार यही कहा करते कि यह बहू हमारे कुल को पवित्र और उज्वल करनेवाली देवी है।

विवाहोपरान्त कई वर्ष तक इसका जीवन इसी प्रकार आनन्द में व्यतीत होता रहा। इसके बाद संयोगवश इसके ससुर की मृत्यु होगई। उनकी मृत्यु पर सास को वैराग्य उत्पन्न हुआ और घर-गृहस्थी का सारा भार बहू देवस्मिता के कन्धों पर रखके वह ईश्वर-भजन में प्रवृत्त होगई। देवस्मिता ने बड़ी अच्छी तरह यह भार वहन किया और संध्या-समय रोज़ सास को धर्मग्रन्थ पढ़कर सुनाने लगी। मणिभद्र जो इतने दिनों से बाप के राज्य में सुख-चैन से दिन बिता रहा था उसे भी पिता की मृत्यु पर बड़ा रंज हुआ, क्योंकि पिता की मृत्यु के बाद व्यापार-व्यवसाय की सारी ज़िम्मेदारी उसीके सिर आ पड़ी।

मणिभद्र धैर्य-धारणकर अपने बाप की जगह दूकान पर बैठा। वह भी था तो बनिये का ही बेटा, इसलिए काम में कोई बाधा न

पड़ी। थोड़े ही दिनों में वह भी व्यापार में बहुत कुशल माना जाने लगा।

एकबार उसके मित्र व्यापार के लिए परदेश जाने लगे, तब उसे भी साहस करने की इच्छा हुई। पति-वियोग से देवस्मिता को बड़ा दुःख हुआ, परन्तु उसने सोचा कि यह व्यापार ही तो पति का धन्धा है और देशावर गये बग़ैर व्यापार में पूरी कुशलता नहीं होती, न पूरी कमाई ही होती है। अतः अपने पति-वियोग के दुःख को हृदय में ही छिपाकर प्रसन्नता के साथ पति को विदेश जाने की अनुमति दी। विदाई के समय पति-पत्नी ने अपनी-अपनी अंगूठी एक-दूसरे को पहनाई, ताकि सदा उन्हें एक-दूसरे के प्रेम का स्मरण होता रहे।

मणिभद्र के परदेश रवाना होते ही देवस्मिता ने अपने सारे आभूषण उतारकर सन्दूक़ में रख दिये और सादा कपड़े पहनकर अपने दिन बिताने लगी। घर के काम-काज से छुट्टी मिलते ही सास के पास जा बैठती और उनके सामने धर्मग्रन्थ पढ़ते हुए अपना काल-यापन करती।

उधर मणिभद्र जहाज़ में बैठकर कटाह नामक नगर में पहुँचा और दूकान करके वहीं व्यापार करने लगा। दुर्भाग्यवश दो-चार दुराचारियों से वहाँ उसकी संगत होगई। दोपहर को जब दूकान से फ़ुर्सत मिलती तो वह उन लोगों के साथ बैठकर शराब पीता और बुरे कामों में अपना वक्त बिताता। उसके ये मित्र बड़े ही दुराचारी, असभ्य और बुरे चालचलनवाले थे। एक दिन शराब की मस्ती में उन्होंने स्त्रियों की ही निन्दा शुरू करदी। मणिभद्र भी उस समय

नशे में चूर था। उसने कहा—"तुम झूठे हो। स्त्रियाँ बहुत भली और सुशील होती हैं। मेरी स्त्री इतनी सती है कि लोग देवी की तरह उसकी पूजा करते हैं।" मित्रों को यह बात खल गई। उन दुष्टों ने बातों ही बातों में मणिभद्र के घर का सब पता-ठिकाना मालूम कर लिया और पीछे से यह निश्चय किया कि ताम्रलिप्ति जाकर छल से मणिभद्र की स्त्री का सतीत्व नष्ट करें और फिर आकर मणिभद्र को शरमिन्दा किया जाय।

यह दुष्ट-निश्चय कर वे दुराचरी ताम्रलिप्ती आये और एक बुद्धमन्दिर की धर्मशाला में ठहरे। ठहरकर धीरे-धीरे अपने अन्यायी काम का जाल रचने लगे। पर उन्हें खयाल हुआ कि किसी स्त्री की मदद के बग़ैर ऐसे काम में सफलता नहीं मिल सकती। अतः उस मन्दिर में एक बौद्ध संन्यासिनी रहती थी, उसे धन का प्रलोभन देकर अपनी ओर किया; और जब वह यह करने को तैयार होगई तो बड़े खुश होकर मन ही मन सोचने लगे—"यह उच्चकुल की वधू इस संन्या-सिनी के फन्दे से नहीं बच सकेगी और तब, कुछ दिन बाद, हम मणिभद्र के आगे स्त्रियों की नीचता और बेवफ़ाई सिद्ध कर सकेंगे।"

वृद्ध संन्यासिनी उन दुष्टों से खूब सीख-पढ़कर देवस्मिता के घर गई। सुशील पुण्यवती देवस्मिता ने उसे तपस्विनी समझकर भलीभाँति उसका स्वागत-सत्कार किया और नम्रता से उसके आने का कारण पूछा। ढोंगी वृद्ध संन्यासिनी अपना मतलब छिपाकर बाहर से धर्म की बातें करने लगी। उसकी धर्म-संबंधी बातें सुनकर देवस्मिता ने उसका और भी सत्कार किया और कभी-कभी आते

रहने की प्रार्थना की। बुढ़िया तो चाहती ही यह थी। उसने सोचा कि बस अब मेरी मनोकामना पूर्ण हो जायगी। और उस दिन से वह रोज़ देवस्मिता के घर जाने-आने लगी। धीरे-धीरे दोनों में खूब जान-पहचान हो गई।

जब उनमें परस्पर अधिक जान-पहचान हो गई तो बातों ही बातों में वृद्ध संन्यासिनी ने देवस्मिता के यौवन और पतिवियोग सम्बन्धी चर्चा चलाकर उसके प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शित की। वस्मिता ठहरी भोली युवती, वह बेचारी उस कुटनी के छल-प्रपञ्च ो क्या समझती? वह तो यही जानी थी कि यह संन्यासिनी एक हेली की तरह बातें करती है; और इसलिए संन्यासिनी की बातों र उसने बहुत ध्यान नहीं दिया। एक दिन जब देवस्मिता अकेली ठी हुई थी, संन्यासिनी ने मौक़ा देखकर कटाह से आये हुए उन ार जवान व्यपारियों की चर्चा चलाई और देवस्मिता से कहा—वे तुम्हारे विरह में व्याकुल हो रहे हैं। तुम एक बार उनपर प्रेम की ज़र डालो, यही उनकी इच्छा है।"

वृद्ध तपस्विनी की यह बात सुनकर देवस्मिता एकाएक चौंक ड़ी। अब उसकी समझ में आगया कि इस दुष्टा के आने और तना हेलमेल बढ़ाने का असली प्रयोजन क्या है। लेकिन उसने मय सूचकता से काम लिया। ऊपर-ही-ऊपर हँसकर उसने कहा—अच्छी बात है, कल मैं इसका ठीक-ठीक जवाब दूँगी।"

बुढ़िया मन-ही-मन फूलकर कुप्पा हो गई और खुशी-खुशी वहाँ ो बिदा हुई। उसे विश्वास हो गया कि अब तो देवस्मिता फँस गई।

बड़े अभिमान के साथ व्यापारियों को भी उसने यह खुशखबरी सुनाई। फलतः वे भी आनन्द के सागर में हिलोरें लेने लगे।

इधर वृद्धा के जाने पर देवस्मिता ने सारा हाल अपनी सास से कहा। सास ने जवाब दिया—"कल से उसे अपनी देहली पर पाँव न धरने दूँगी।" परन्तु देवस्मिता बड़ी चतुर थी। उसने सोचा—"इन सब दुष्टों को बिना दण्ड दिये न छोड़ना चाहिए।" और सास को समझा-बुझाकर उन व्यापारियों को रात के समय अपने घर बुलाने की स्वीकृति ले ली।

दूसरे दिन जब वह बुढ़िया आई, तो देवस्मिता ने हँसते हुए कहा—"अच्छा, आज उन्हें इस जगह ले आना; मैं उनसे पूछूँगी कि वे मुझसे किसलिए मिलना चाहते हैं।"

रात को जब सब सो गये तो एक-एककर उन चारों को वृद्ध संन्यासिनी घर में लाई। अपने दो विश्वास्त नौकरों को देवस्मिता ने पहले से ही वहाँ छिपा रक्खा था। उनके हाथ में गरम किये हुए लोहे के कुत्ते के पंजे थे। व्यापारियों के घर में पैठने के साथ ही नौकरों ने उन दुष्टों के सिर में कुत्ते के पंजों के डाम लगा दिये और अँधेरी रात में मकान के ऊपर से नीचे सड़क पर उन्हें धकेल दिया। फलतः उनकी बड़ी दुर्दशा हुई और सूरज निकलने से पहले-पहले, बिना किसीसे कुछ कहे-सुने, चुपचाप वे लम्बे बने। यहाँ तक कि संन्यासिनी रूपी उस कुटनी को भी वे अपना हाल न कह सके।

दूसरे दिन उस संन्यासिनी को बुलाकर देवस्मिता ने खूब धमकाया और कहा—"क्यों, क्या लोगों को इस तरह धोखा देने के लिए ही

तूने संन्यासिनी का वेश धारण किया है ? धिक्कार है तुझे ! वेश तो साधु का सा रखती है और धन्धा कुटनी का करती है। तेरे उन चारों बदमाशों को तो मैंने मज़ा चखा दिया है, अब तेरी बारी है। बोल तेरी क्या गति करूँ, जिससे तेरे सरीखी ढोंगी स्त्रियाँ सदा के लिए चेत जायँ ?"

देवस्मिता का चण्डी-रूप देखकर बुढ़िया भयभीत हो गई और उस केपैरों पर गिर पड़ी। यह देख देवस्मिता की सास को उसपर दया आगई और वह बीचबचाव करने लगी, पर देवस्मिता ने कहा—"नहीं माताजी ! इसे तो दण्ड देना ही चाहिए। क्योंकि दुष्टों को उचित दण्ड न देने से पाप बढ़ता है और अन्त में धर्म-कार्य क लोप हो जाता है।"

आखिर सास के कहने-सुनने से देवस्मिता ने उस बौद्धमन्दिर के पुजारी को बुलाया और उसे विस्तार से संन्यासिनी की पोल-कथा सुनाकर सलाह दी कि अब इस बुढ़िया को मंदिर से निकाल दो और आगे से मन्दिर के अन्य साधु-संन्यासिनियों पर भी भरपूर देख-भाल रक्खी जाय, जिससे वे संसारी मनुष्यों के आचार न बिगाड़ सकें। तदनुसार पुजारी ने बुढ़िया को मन्दिर से निकाल दिया।

यह घटना तो इस प्रकार समाप्त हो गई, परन्तु इसके दो-चार दिन बाद देवस्मिता को खयाल हुआ कि ये बदमाश एका करके कहीं परदेश में मेरे पति पर अपनी खिझलाहट न निकालें। अतः अपनी सास से उसने कहा—"माताजी ! बहुत दिनों से आपके पुत्र के कुशल-समाचार नहीं मिले। ये चारों व्यापारी उनके मित्र थे। इन्हें हमने इनकी करनी

का फल चखाया है, इससे मुझे शंका है कि कहीं ये लोग मेरा बदला उनसे न लें। अतः आप आज्ञा दें तो मैं स्वयं परदेश जाकर उनकी रक्षा करूँ और उनकी राज़ी-खुशी मालूम कर आऊँ।"

सास ने पहले तो कुछ आनाकानी की, पर फिर सोचा—"बहू बड़ी धर्मात्मा है, इसे कोई भी विघ्न पड़ने की संभावना नहीं है।" और तब देवस्मिता को पति की शोध में जाने की अनुमति दे दी।

देवस्मिता ने सास के पैर छूकर आशीर्वाद लिया तथा अपनी दासियों को साथ लेकर मरदाने वेश में जहाज़ पर बैठकर कटाह बन्दर पहुँची। वहाँ अपने पति की दूकान के पास ही एक मकान किराये पर लेकर ठाठ-बाट से रहने लगी। मणिभद्र ने इसे देखा; उसे इसका चेहरा तो अपनी स्त्री के जैसा मालूम पड़ा, परन्तु मरदाना वेश देखकर इससे जाकर मिलने या बातचीत करने की उसे हिम्मत न हुई। उसने सोचा कि यह कोई मेरे देश के किसी सेठ का पुत्र होगा।

कुसंगति के कारण मणिभद्र और ही रंग में रंग गया था। उसके जो चार मित्र ताम्रलिप्ती से वापस आये थे, उन्होंने देवस्मिता से वैर भँजाने के लिए उसके खिलाफ़ तरह-तरह की मिथ्या बातें कहीं; और इस प्रकार मणिभद्र के मन में अपनी स्त्री के लिए बुरी धारणा पैदा करदी। देवस्मिता ने वहाँ रहकर वहाँकी जानने योग्य सब बातें जान लीं। इसके बाद एक दिन राजदरबार में जाकर कहा—"मेरे चार गुलाम आपके राज्य में भाग आये हैं, उनका पता लगा कर कृपया उन्हें मेरे सुपुर्द कर दिया जाय।"

वहाँ का राजा सूरसेन बड़ा धर्मात्मा और नीतिज्ञ था। परदेशी व्यापारी की यह फ़रयाद सुनकर उसने कहा—"तुम्हारे ग़ुलाम का पता बताओ, तो उन्हें पकड़वाकर तुम्हारे सुपुर्द कर देंगे।"

इसपर देवस्मिता ने उन चारों के नाम बताये। परन्तु वे सब-के-सब उस राज्य के प्रसिद्ध और धनी सेठ-साहूकारों के लड़के थे, इसलिए पहले तो किसीको उसकी बात पर विश्वास ही नहीं हुआ; फिर भी उनको बुलवाया तो गया ही। उनके आजाने पर राजाने पुरुष-वेशधारी देवस्मिता से कहा—"देखो, तुम धोखा खा रहे हो। जिनको तुम अपने ग़ुलाम बता रहे हो, वे तो मेरे राज्य के धनी-मानी साहूकारों के पुत्र हैं। इनका अपमान करने के अपराध में कहीं तुम ख़ुद ही न फँस जाना।" पर देवस्मिता इसपर ज़रा भी विचलित नहीं हुई और बोली—"मेरे दासों के सिर में कुत्ते के पंजे के चिन्ह रहते हैं। इन लोगों ने पगड़ी के नीचे उन चिन्हों को छिपा रक्खा है। आप इनकी पगड़ी उतरवाकर देखें और बतायें कि ये मेरे दास हैं या नहीं ?"

राजाज्ञा से चारों की पगड़ियाँ उतारी गईं तो उनके मस्तक पर सचमुच कुत्ते के पंजे के चिन्ह दिखाई पड़े। उन्हें देखकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। राजा ने बार-बार उन युवकों से उन चिन्हों का स्पष्टीकरण करने के लिए कहा, परन्तु शर्म के मारे चारों चुप ही रहे। अपनी सफ़ाई में वे एक शब्द भी नहीं कह सके।

अब देवस्मिता से न रहा गया। उसने इन पापियों के अन्याय तथा उसके लिए उनपर पड़ी हुई मार की सारी बात शुरू से अख़ीर

तक कह सुनाई। सब कुछ सुनकर राजा क्रोध से उबल पड़ा और इस अपराध के लिए उसने उन चारों को क़ैद की सज़ा दी; परन्तु उनके माँ-बाप देवस्मिता के पैरों पड़कर क्षमा माँगने लगे, तो देवस्मिता ने राजा से प्रार्थना करके उनकी सज़ा माफ़ करा दी।

राजा देवस्मिता से बड़ा खुश हुआ और उसके पातिव्रत्य की भूरी-भूरी प्रशंसा की, यही नहीं बल्कि बहुत-से धन-वस्त्रालंकार का उपहार देकर उसे ताम्रलिप्ती के लिए बिदा किया।

मणिभद्र भी अपनी स्त्री के पातिव्रत एवं कुशलता की बात सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसकी सारी शंकायें निर्मूल हो गईं और वह भी उसके साथ अपने घर गया।

मणिभद्र की माँ को जब देवस्मिता की इस सब बात का पता लगा तो उसका हृदय भी गद्गद् हो गया। उसने अपनी पुत्रवधू को छाती से लगाकर अपने हृदय के आवेग को शान्त किया, और प्रसन्नता के साथ कहा—"बहू! तू सच-मुच देवी है। भगवान तेरे सौभाग्य को सदा अचल रक्खें। तुझ सरीखी देवियों से ही स्त्री-जाति की प्रतिष्ठा बढ़ती है।

नगरवासियों ने जब यह समाचार सुना तो उनके आनन्द का भी पार न रहा। इस घटना से देवस्मिता के प्रति उनकी श्रद्धा बहुत बढ़ गई।

जिस देश और जाति में ऐसी धर्मात्मा, कुशल और साहसी स्त्रियाँ उत्पन्न होती हैं वह देश और जाति सचमुच धन्य हैं।

३४

महान् विदुषी

भारती

स्वामी शंकराचार्य जिस समय हिन्दू-धर्म को बौद्ध-धर्म के असर से मुक्त करने के लिए प्रयत्नशील थे और अपने वेदान्त मत का प्रतिपादन करते हुए इधर-उधर भ्रमण कर रहे थे, उस समय अपने धर्म-प्रचार के कार्य में उन्हें एक स्त्री से बहुत मदद मिली थी। यह स्त्री और कोई नहीं, उस समय के एक बड़े भारी बौद्ध विद्वान पंडित मण्डन मिश्र की पत्नी भारती देवी थीं, जो अपने समय की एक महान विदुषी स्त्री होगई है।

भारती के पाण्डित्य का प्रदर्शक एक उदाहरण सर्व-विदित है। एकबार मण्डन मिश्र के साथ शंकराचार्य का शास्त्रों-सम्बन्धी वाद-विवाद (शास्त्रार्थ) हुआ। शास्त्रार्थ से पहले शंकराचार्य ने यह प्रतिज्ञा करली थी कि शास्त्रार्थ में मेरी हार हुई तो मैं संन्यास-परित्याग करके मण्डन मिश्र का शिष्य बन जाऊँगा। इसी प्रकार मण्डन मिश्र ने भी प्रतिज्ञा की थी।

शंकराचार्य और मण्डन मिश्र दोनों ही धुरन्धर विद्वान थे, इसलिए उनका शास्त्रार्थ कोई मामूली बात तो थी नहीं; ऐसी हालत में

शास्त्रार्थ में मध्यस्थ कौन बने, यह बड़ा टेढ़ा सवाल था। लेकिन इसके लिए ज़्यादा दौड़धूप नहीं करनी पड़ी। सोच-विचार के बाद, मण्डन मिश्र की विदुषी पत्नी भारतीदेवी को यह सम्मान दिया गया।

शास्त्रार्थ शुरू हुआ। दोनों अपनी-अपनी दलीलें पेश करने लगे और भारती ध्यानपूर्वक उन्हें सुनने लगी। दोनों विद्वान इस बात से निश्चिन्त थे कि निर्णय योग्य हाथों में है और भारती भी अपनी ज़िम्मेदारी बखूबी जानती थी। लेकिन शास्त्रार्थ के अन्त में उसका निर्णय यही रहा कि मण्डन मिश्र अपने पक्ष-समर्थन में असफल रहे, इसलिए विजयमाला उसने निःसंकोच शंकराचार्य के गले में डालदी।

इस प्रकार मण्डन मिश्र तो पराजित होगये, लेकिन भारती ने शङ्कराचार्य से कहा—"अभी आप पूरी तरह जीते हुए नहीं कहे जा सकते। अब आप मेरे साथ तर्क कीजिए। मुझे भी आप अपने तर्क से परास्त करदें तभी आप पूरी तरह विजयी कहे जा सकेंगे।"

भारती के ऐसे स्पर्धायुक्त वचन सुनकर शंकराचार्य कुछ विस्मित हुए, लेकिन उसकी बात को टाल न सके। आखिर शंकराचार्य और भारती के बीच शास्त्रार्थ शुरू हुआ। भारती प्रश्न करने लगी और शंकराचार्य जवाब देने लगे। पश्चात् शंकराचार्य ने प्रश्न शुरू किये और भारती उत्तर देने लगी। इस प्रकार रात-दिन शास्त्रार्थ होते हुए महीनों बीत गये, लेकिन न तो शंकराचार्य थके और न भारती ही थकी। भारती का पाण्डित्य, धैर्य एवं अध्यवसाय देखकर शंकराचार्य स्तम्भित होगये; और मन-ही-मन सोचने लगे, कि 'मैंने शास्त्रार्थ तो

बहुतेरे पण्डितों के साथ किया है, लेकिन ऐसा भारी शास्त्रार्थ तो आजतक किसी के साथ नहीं हुआ। भारती एक भी प्रश्न बाक़ी नहीं छोड़ती थी। एक दलील पूरी हुई नहीं कि तुरन्त दूसरी तैयार रहती। मगर शंकराचार्य भी कुछ कम विद्वान् नहीं थे, इसलिए उन्हें हरा नहीं सकी। आख़िर भारती ने कामशास्त्र-संबंधी प्रश्न आरम्भ किये। तब शंकराचार्य ने कहा, "मैं संसार-त्यागी हूँ। कामशास्त्र का मुझे ज़रा भी ज्ञान नहीं है।"

कथा तो इसके बाद यह भी है कि शंकराचार्य ने इसके लिए भारती से छः महीने की मुहलत मांगी थी। इस समय में हठयोग से अपने शरीर को छोड़कर उन्होंने एक राजा के मृत देह में, जो इसी समय मरा था, प्रवेश किया। राजा की देह में स्थित शंकराचार्य ने उसकी रानी से कामशास्त्र संबंधी ज्ञान प्राप्त किया और छः महीने के अन्दर भारती के प्रश्नों का उत्तर दिया।

शास्त्रार्थ के बाद मण्डन मिश्र, अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार, शंकराचार्य के शिष्य होगये। पतिव्रता भारतीदेवी ने भी अपने पति का ही अनुसरण किया। इस प्रकार पूर्वोक्त शास्त्रार्थ में विजयी होकर शंकराचार्य ने मण्डन मिश्र को ही प्राप्त नहीं किया बल्कि भारतीदेवी जैसी विद्वान् और विदुषी स्त्री को भी अपने पक्ष में कर लिया। शंकराचार्य के काम में भारती जैसी स्त्रियों का सहयोग कितना उपयोगी हो सकता था, यह बतलाने की ज़रूरत नहीं। भारती ने सच्चे जी से अपना कर्तव्य पालन किया और अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक वह शंकराचार्य के कामकाज में ही लगी रही। शंकराचार्य

भी उसकी क़द्र जानते थे। यहाँ तक कि श्रृंगेरी में उन्होंने उसके लिए एक मन्दिर भी बनवा दिया था, जहाँ उसने अपनी आयु के शेष दिन व्यतीत किये थे।

समाप्त